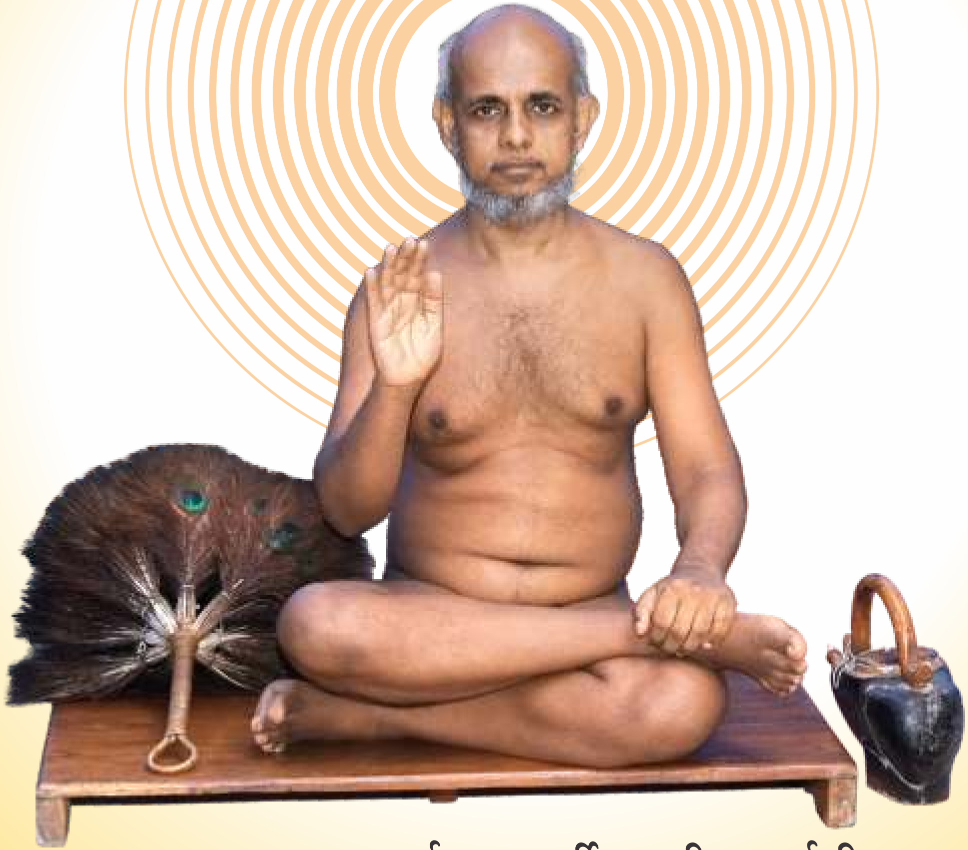

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

अकिंचित्कर

लेखक
परम पूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज

प्राप्ति स्थान
ज्ञानोदय नवयुवक सभा
जबलपुर (मध्यप्रदेश)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

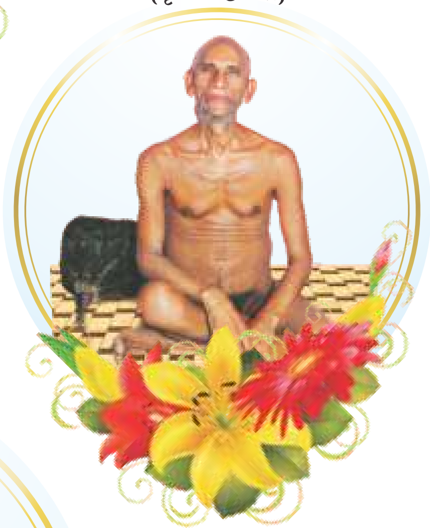

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

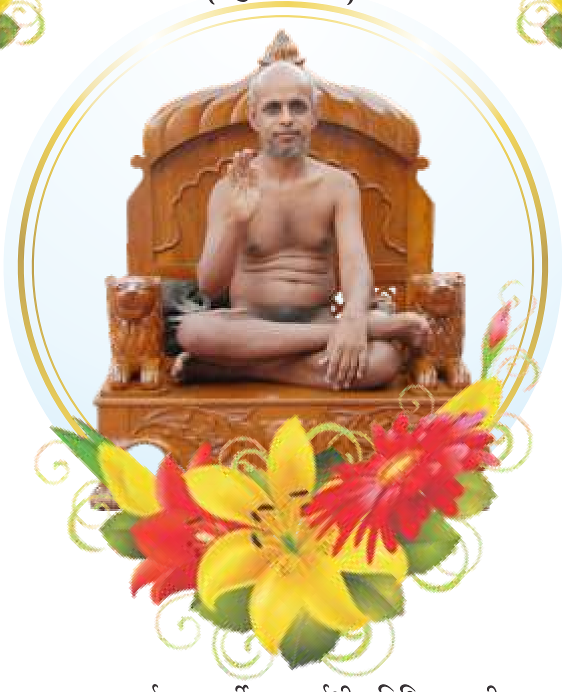

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलत: उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

अकिंचित्कर

'अकिंचित्कर' आपके हाथों में है, इसे आप पढ़ेंगे ही,----पर! इतना अवश्य ध्यान रखें कि इसे कम से कम दो बार पढ़ें। एक बार, तो पूर्वाग्रहमुक्त—निर्विघ्न/जिज्ञासाभाव से तथा दूसरी बार, अपने पूर्वाग्रह या पूर्व धारणाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन के साथ। तभी पुस्तक के हार्द एवं प्रयोजन की यथार्थ जानकारी आपके हाथ आ सकेगी।

चित्र-परिचय-पत्रकारिता के पंच ककार।

आचार्य कुन्दकुन्द
द्विमहस्राब्दी महोत्सव वर्ष
में प्रकाशित

[मिथ्यात्व विषयक बहुचर्चित चर्चा पर सामयिक प्रत्यालोचन एवं
विसंयोजना के सन्दर्भ मे मौलिक अनुशीलन]

अकिंचित्कर

आचार्य विद्यासागर

❀ प्राप्ति स्थल

★ ज्ञानोदय नवयुवक सभा, जैन मंदिर, लार्डगंज, जबलपुर

★ संतोषकुमार जयकुमार जैन, कटरा बाजार, सागर

अकिंचित्कर

आचार्य विद्यासागर

ज्ञानोदय प्रकाशन, जबलपुर

प्रथम आवृत्ति – २२ नवम्बर, ८७

(१५ वाँ आचार्य पद-प्रतिष्ठा दिवस)

चार रुपये

मुद्रक : अनिल मुद्रणालय, जबलपुर

AKINCHITKAR

By Acharya Vidyasagar.

शीर्षक/उपशीर्षक

□ पुरानी चर्चा पर नये सन्दर्भ–	*VII*
□ प्रयुक्त ग्रन्थो की सूची–	*XV*
1 सम्यग्दर्शन की महिमा–	1
□ सिद्धान्त	3–56
1 मिथ्यात्व का स्वरूप	3
2 बन्ध के भेद व स्वरूप	4
3 बन्ध व्यवस्था	5
4. कषाय से ही मिथ्यात्व का बन्ध	8
5 स्थिति बन्ध की हीनाधिकता भी कषाय पर निर्भर	12
6 अनन्तानुबन्धी की विशेषता	15
7 मिथ्यात्वादि प्रत्यय एव उनके साथ प्रकृतियो का अन्वय–व्यतिरेक	17
8 गुणस्थानो की गत्यागति का क्रम	21
9 बन्धव्युच्छित्ति और बन्धापसरण मे अन्तर	24
10 विसयोजना की परिभाषा, स्वामी और अध्वान	25
11 सयोजना होने का कारण	26
12 सयोजना मे विशेष ध्यातव्य-मन्तव्य	27
13 उदयावलि मे अनन्तानुबन्धी की रिक्तता का हेतु	30
14 रिक्तता के हेतु मे उदाहरण	31
15. सयोजना का अर्थ, नया बन्ध नही	32
16 विसयोजना एव सक्रमण मे अन्तर	34
17 अनन्तानुबन्धी का प्रशस्त उपशम भी नही होता	35
18 अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व की जननी	37
19 अनन्तानुबन्धीजन्य विपरीताभिनिवेश का फल	39

20 स्व-परोदय की परिभाषा एव बन्ध के समय उनकी भूमिका 41

21 नयो की विवक्षा मे सामान्य व विशेष प्रत्यय 45

22 बन्ध-व्यवस्था मे दर्शनमोहनीय की सामान्यता व उसका स्वरूप 51

23 क्या सभी औदयिकभाव बन्ध मे निमित्त हैं ? 53

□ अध्यात्म 56–66

24 बन्ध का अन्तरङ्ग एव बहिरङ्ग साधन 56

25 बन्ध मे आत्मा की भाववती एव क्रियावती शक्तियो का योग 59

26 मिथ्यात्व, कषाय नही 62

27 मिथ्यात्व की अकिंचित्करता 62

□ न्याय 67–68

28 प्रत्ययो की व्याप्ति 67

29 द्रव्यबन्ध और भावबन्ध मे कार्य-कारण व्यवस्था 67

□ उपसहार 68–74

30 सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय 68

31 हमारा उद्देश्य भूल सुधार व अनाग्रहभाव 72

पुरानी चर्चा पर नये सन्दर्भ

☐ बहुत दिनो से .. बहुत दिनो से ही क्यो ? बहुत सालो से चल रही इस तत्त्वचर्चा को, नये सन्दर्भों के साथ पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित करने से शायद, इसको नया मोड मिलेगा। चर्चा का विषय-प्रस्तुतीकरण हो कि इससे पहले पुस्तिका के उद्भव का इतिवृत्त बताने का लोभ सवरण न कर सकू गा।

सन् १९८४ मे मैं श्री सिद्धक्षेत्र गिरनार जी की यात्रा पर था। यात्रा के दौरान अजमेर जाने का भी अवसर मिला, जहा कि आचार्य धर्मसागर जी का सघ सहित चातुर्मास हो रहा था। उनके सघ मे अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी एव मुनि वर्द्धमान सागर जी प्रबुद्ध साधु भी उस समय वहा थे, जिनकी वन्दना का अवसर प्राप्त हुआ। इनसे मेरा सम्पर्क होने के कारण प्राय चर्चा भी होती है। इस बार चर्चा के दौरान 'मिथ्यात्व आस्रव व बन्ध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर है' विषय पर काफी विमर्श हुआ। मुझे स्मरण है कि चर्चा के दौरान आचार्यकल्प श्रुतसागरजी ने कहा—'इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए कई लोगो से चर्चा कर चुका हू, अब तो सोचता हू कि आचार्यश्री (विद्यासागरजी) से ही सीधे समझने की कोशिश करना चाहिए। बीच के लोगो से तो विषय और उलझता-सा जा रहा है।'

इस वाक्य से मेरे मन मे इस पुस्तिका का बीजारोपण तो अवश्य हुआ, किन्तु कई दिनो तक भी सकल्प के अकुर न निकल सके। कारण, तब मै यह ही नही समझ सका था कि किस माध्यम से इन प्रबुद्ध सन्तो की चर्चा / वार्ता हो सकती है ? यह प्रश्न दिमाग मे निरुत्तरित ही घूमता रहा। और कुछ दिनो बाद तो मैं प्रश्न को ही विस्मृत कर बैठा।

नवम्बर १९८५ मे दक्षिण भारत के जैन-तीर्थों की यात्रा का भी अवसर मिला। दक्षिण भारत के जिन विद्वज्जनो से मेरा परिचय था

उन्होने तथा अन्य भी अपरिचित लोगो ने मुझसे, आचार्य श्री विद्यासागर से सपर्क होने के कारण, इसी सदर्भ मे बातचीत की। अब तक मै अपने आपका इस विषय से परिचय हो जाने के कारण, बुद्धिके अनुसार समाधान करने की कोशिश करता रहा। किन्तु अन्त मे जब मै इण्डी मे विराजमान मुनि श्री नियमसागरजी मे चर्चा कर रहा था, साथ मे सुश्री विद्युल्लता जी शहा व सोलापुर के अन्य साथी थे तब मैने स्पष्ट अनुभव किया कि यदि आचार्य श्री मे ही आगम के आधार पर चर्चा बातचीत कर उसे सामान्य आगमाभ्यासियो तक पहुँचाना चाहिए। तभी विषय की तथा विषयगत उद्देश्य की यथार्थ जानकारी सर्वविदित हो सकती है। अत वही सकल्प कर लिया कि यात्रा समाप्त होते ही इस कार्य की पहल करुगा, और आचार्य श्री के विचार इस विषय के साथ अकालमरण, शुभोपयोग-शुद्धोपयोगादि चर्चित विषयो पर लेकर छोटे-छोटे ट्रैक्ट के रूप मे प्रकाशित कराने का प्रयास करुगा।

जनवरी १९८६ के आरभ मे यात्रा समाप्त कर जब आचार्य श्री के दर्शनार्थ नैनागिरजी पहुँचा तो रास्ते का सकल्प कह सुनाया और कार्यारम्भ हेतु भी निवेदन किया। उन्होने हर समय उत्तर देने वाले शब्द 'देखो' न कहकर स्पष्ट कहा—"अभी तो समय नही है, पर दो माह बाद अवश्य इसके लिए समय दे सकता हूँ।" मैने और प्रतीक्षा के लिए सिर हिलाकर मजूर कर लिया। कई दिनो तक इसके ही मिष पदयात्रा भी करता रहा और निवेदन करता रहा। अन्त मे कहते-कहते जून मे षट्खण्डागम स्वाध्याय शिविर की समाप्ति पर समय मिला। पहली किस्त मे दिनाक ११-६ को लगभग ४५ मिनिट की चर्चा हुई। लेकिन सभी विषयो पर चर्चा न हो सकी। अत पुन समय की माग रखी गयी तथा दिनाक २६-६ की स्वीकृति मिली। ठीक समय पर चर्चा हुई और लगभग ४० मिनिट तक चर्चा हुई। कुछ शका समाधान भी हुआ। चर्चा के बाद महसूस किया कि विषय लगभग पूरा हो गया। अत अब इसे प्रकाशन के योग्य बना लेना चाहिए, किन्तु जब उसका आद्योपान्त आलोडन किया तो देखा कि 'अभी भी कुछ विषय

छूट रहा है। अत दिनाक ६-८ को पुन एक बैठक मे चर्चा हुई और विषय की पूर्ति की गयी। इस तरह से इसके आकारग्रहण की एक लबी यात्रा का कुछ भाग तय हो पाया।

पूज्य आचार्यश्री ने कुण्डलपुर मे सर्वप्रथम इस विषय को बनारस से आगत विद्वानो एव प्रबुद्धदर्शको के समक्ष प्रस्तुत किया था। उस वक्त कुछ चर्चा भी हुई थी, किन्तु समयाभाव के कारण निष्कर्ष जैसा कुछ नही हो सका। अत नैनागिरमे सन् १९७८ मे आयोजित शिविर के समय आये विद्वानो के समक्ष पुन विषयप्रवर्तित हुआ। तब से आज तक इसकी चर्चा लगभग विद्वानो एव सुधी स्वाध्यायियो तक प्रसरित होती / हो रही है और वे अपनी बुद्धि के अनुसार इसके पक्ष-विपक्ष मे आगम और तर्कों को उपस्थित करते रहे। कई विद्वानो को तो स्वय आचार्यश्री से इस विषय पर विमर्श कर लेने का अवसर मिला तथा तथ्य को समझकर निरुत्तरित होकर चले गये। लेकिन जिन्होने इसे नही समझ पाया और ना ही सीधे आचार्यश्रीसे चर्चा हुई या जो पक्षाग्रही रहे उन्होंने तो इस विषय पर किस्त–दर–किस्त लेख-मालाएँ चलाकर समाधान पाना या देना चाहा, किन्तु मालूम नही उन्हे उसे पाने / देने मे कितनी क्या सफलता मिली ?

इस प्रकार के सामयिक परिप्रेक्ष्य को देखकर कई श्रावको ने आचार्यश्री से भी लेख के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करने का आग्रह किया, किन्तु उन्होने 'एक, हमारी तो कोई पत्रिका नही तथा दूसरी, मैं ना तो इन पत्र-पत्रिकाओ को पढता हू और ना ही इनमे लेख दे सकता हू' कहकर टाल दिया। 'किन्तु चर्चा के लिए जो भी आना चाहे-आये, आगम की विनय एव मर्यादा के साथ सयमपूर्वक चर्चा करे तो हम अपने आवश्यको के अतिरिक्त समय मे चर्चा करने हमेशा तैयार हैं।' कहकर उन्होने विषय की गहनता एव दृढ़ता का परिचय कराया।

मैं निरन्तर सोचता रहा–'चर्चा के लिए कौन–कितने लोग आ

सकते हैं या उनके सामने चर्चा कर सकने का साहस कितने जुटा सकते हैं इससे भला कौन परिचित नहीं ?'' अन्ततोगत्वा इस पुस्तिका की उद्भूति की कल्पना ने जन्म लिया ।

इस सदर्भ की समग्रता, यह बताये बिना नहीं हो सकती, कि प्रतिवर्ष लगने वाले 'षट्खण्डागम स्वाध्याय शिविरों' में सिद्धान्तविज्ञ विद्वान् आते रहे तथा षट्खण्डागम । कषायपाहुड के किसी भी प्रसंगवश इस विषय की चर्चा भी मुखरित होती रही । विद्वानों ने तथा आचार्य श्री ने अपने-अपने प्रश्न रखे, विचार-विमर्श हुआ । किसने कितने प्रश्न समाधित किये, यह अल्पबुद्धि होने के कारण उस समय तो नहीं जान सका किन्तु कुछ उत्तर उस समय सुने व आज वे अविस्मृत हैं, निश्चित ही अविचारितरम्य जान पड रहे हैं । जैसे प्रश्न-अनन्तानुबन्धी के अनुदय में मिथ्यात्व गुणस्थान में एक आवलिकाल तक अनन्तानुबन्धी का बन्ध कराने वाला कौन है ? उत्तर-'अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय ।' इसी प्रश्न का अगले सालों में उत्तर दिया गया 'मिथ्यात्व' इत्यादि ।

इन शका-समाधानों से तब तथा अभी तक भी पूर्णरूप से ना तो आचार्यश्री सहमत हो सके और ना ही कोई विद्वान् । फिर लघुधी स्वाध्यायियों की बात करना अनुचित होगा । लेकिन हां--! मुझे इस माहौल ने सक्रिय किया और मेरी कल्पना को पैर भी दिये, जिससे ही मैं इस विषय की गहराई को स्पर्श करने की बुद्धि पा सका । और इस तरह इस पुस्तिका के जन्म के ऐतिह्यपृष्ठ से आज तक की यह यात्रा कर सका ।

लोगों ने लोगों ने ही क्या ? कई विद्वानों ने भी विषय-वस्तु की यथेष्ट जानकारी न प्राप्तकर यद्वा-तद्वा प्रलाप करने वाले जैसे-'मिथ्यात्व आस्रव और बन्ध के क्षेत्र में अकिंचित्कर है' इस वाक्य से कहा कि आचार्य महाराज तो मिथ्यात्व को कुछ नहीं मानते, उससे कोई हानि नहीं स्वीकारते, वे तो मिथ्यात्व के समर्थक हैं, इत्यादि इस विषय पर अपनी राय देकर अपनी मेधा का परिचय देते रहे । 'मिथ्यात्व

आस्रव एव वन्ध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर है' से सीधा-सा तात्पर्य इतना ही था कि 'मिथ्यात्व कौन-सी कितनी प्रकृतियो का आस्रव व कौनसी, कितनी प्रकृतियो मे स्थिति और अनुभागवन्ध कराने मे हाथ रखता है' इस गूढ रहस्य को उजागर किया जाये। या इसी वात को इन शब्दो मे कहे कि 'मिथ्यात्व के विषय मे वैठे एक और मिथ्यात्व/तत्त्वसबधी भूल को अनावरित करना।' इस वाक्य मे 'मिथ्यात्व को कुछ न मानने' जैसी शकाओ को अवकाश ही कहा ?

विषय की गभीरता, वाल की खाल निकालने जैसी ही है। फिर भी यदि सक्षेप मे समझने की वात करे तो इस तरह समझा जा सकता है कि, 'क्या सम्यग्दर्शन, जो कि मोक्ष का कारण है, किसी प्रकृति के आस्रव या वन्ध का भी कारण हो सकता है ? पहला, यदि हा! [होता है तो वह मोक्ष का हेतु नही हो सकता। कारण जो वन्ध का हेतु है वह उससे विपरीत कार्य मोक्ष का हेतु नही हो सकता। अन्यथा शीतल एव उष्ण परस्पर विरुद्ध धर्मो के अवस्थान का आधार एक अग्निधर्मी होना चाहिए। लेकिन ऐसा सभव नही है। दूसरा, यदि कहो कि सम्यग्दर्शन तो मोक्ष का ही हेतु है वन्ध का नही तो उससे विलक्षण जो मिथ्यात्व वह भी मात्र ससार का हेतु (विपरीताभिनिवेशजनक) है, वन्ध का नही। कारण, वन्धरूप कार्य उससे भिन्न है।

हा- यदि कहो कि दोनो को सर्वथा अकिंचित्कर न माना जाये। कारण, सम्यग्दर्शन के द्वारा तीर्थकरादि विशेष प्रकृतियो का वन्ध आगम मे वर्णित है अत कथचित् वन्धकर स्वीकारना चाहिए ?

समाधान-कथचित् का यह प्रयोग कितना अधिक भूल भरा है यह निम्न वाक्य से ही स्पष्ट होता है, कि यदि सम्यग्दर्शन को कथचित् ससार का हेतु व कथचित् मोक्ष का हेतु कहा तो वैसे ही मिथ्यात्व को भी कथचित् ससार और कथचित् मोक्ष का हेतु होना चाहिए, किन्तु ऐसा होना स्पष्ट रूप से आगम विरुद्ध है।

यथार्थ विषयवस्तु से ही अन्दर के पृष्ठ लिखे गये हैं। यहा तो मात्र विषय स्पर्श कराना ही उद्देशित है, व्यर्थ का कलेवर बढ़ाना नही।

टिप्पण मात्र कथन-पुष्टि के प्रतीक-रूप मे ही नही दिये गये हैं बल्कि इसके पीछे एक लक्ष्य 'एक आचार्य की भाषासमिति के सफल प्रयोग व आगमनिष्ठा का भी दिग्दर्शन कराना है। वैसे पुस्तिका मे स्थान प्राप्त सन्दर्भों का जितनी मात्रा मे उपयोग हो पाया है, लगभग उसके बराबर ही प्रमाण मे अभी और भी मौजूद है, लेकिन उन सबको 'मघवा मूल विडौजा टीका' हो जाने के भय से ही नही दिया जा रहा है।

साथ ही दिये गये प्रसग भी आद्योपान्त ही उद्धरणीय थे किन्तु विस्तार भय से उन्हे अतिसक्षेप मे ही रखना पडा। अत विद्वज्जनो से अनुरोध है कि वह उन्हे ग्रथो के सकेत से आद्योपान्त देख लें तथा कष्ट के लिए ध्यान न दें।

पुस्तिका मे दी गयी सन्दर्भित ग्रथो की सूची के अनुसार वैसे तीस ही पुस्तको का सहारा लिया गया है परन्तु यदि उनके सभी भागो की परिगणना की जाये तो वह ६४ तक पहुँचती हैं। अत· प्रसग खोजने के समय सावधानी अपेक्षित होगी। पाद–टिप्पण मे ग्रथ का नाम, उसकी भाग सख्या/गाथा या कारिका तथा पृष्ठसख्या ही उद्धृत की गई है, यत सकेत, सकेत के ही रूप मे रहे। उन्हे खोजने के लिए व्यर्थ उलझन व प्रज्ञा परिश्रम पैदा न हो।

☐ 'कैसिट' से आलेख तैयार करना कितना कष्ट साध्य है, इससे कम से कम वे लोग तो वाकिफ हैं ही, जो इस विषय मे दखल रखते, करते हैं। कारण, सामान्य बोलचाल की भाषा को तद्वत् लिख पाना अत्यन्त दु साध्य होता है। इसके बाद उसकी शुद्धि एव पाण्डुलिपि तैयार करना भी कम कष्टप्रद नही है। इनके साथ ही सदर्भों में उल्लिखित ग्रथो मे से वे पक्तिया खोजना, जो प्रसगोपात्त हैं, आप सबके अनुभव या अनुमानगत है कि कितना श्रमपूर्ण होता है। अत इन सभी कार्यों को जिन अनेक परिश्रमी हाथो ने किया उनको स्मरण कर लेना कर्त्तव्य होगा।

कार्य की अधिकता ने सहभागी होने वालो की सख्या में भी

वृद्धि की। अतः उन सभी का नामोल्लेख करना प्रसंगोपात्त होकर भी संभव नहीं हो पा रहा है। अतः भूल होना सम्भव है। अतः उन सभी को 'अनाम–प्रतिभाओं' के रूप याद कर रहा हूं तथा आशा कर रहा हूं कि उनका यह स्नेह/सहयोग/उदारता/कृपा, जो सदा से मिला है, इस त्रुटि के बाद भी पूर्ववत् या वृद्धिगत ही मिलेगा। मैं उनके श्रम को अपने से सदा उपरि मानता हूं, यह विश्वास भी उन्हें दिलाने के लिए इतना कहना ही उचित मानूंगा कि 'मैं इस कार्य में मिथ्यात्ववत् ही अकिंचित्कर हूं।' मेरी उपस्थिति ही मात्र इस पुस्तिका की अनिवार्यता रही, किन्तु सारा श्रम व योग इन्हीं सहयोगियों का है। अतः पुनश्च साधुवाद।

पुस्तिका प्रकाशन में श्री ऋषिप्रसादजी, प्रतिनिधि–सकल दिगम्बर जैन समाज, बल्लभगढ़ (फरीदाबाद) का एवं अनिल मुद्रणालय के अधिकारियों एवं कर्मचारियों का भी सहयोग अविस्मरणीय है।

अन्त में, परम पूज्य आचार्यश्री के चरणों में श्रद्धाभिभूत हो प्रणत हूँ जो कि उन्होंने मेरी इस छोटीसी प्रार्थना पर ध्यान दे हमें तथा आप सभी को उपकृत किया। आशा एवं विश्वास है कि हम तथा आप इस उपकार से अपनी बुद्धि/श्रद्धा/विवेक/आचरण को भी उपकृत कर सकेंगे। इत्यलम्।

पिसनहारी, १४ नवम्बर ८७; — राकेश जैन

प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

1	आप्तपरीक्षा	प्रकाशक	जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई	II	2457
2	कर्मकाण्ड	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	I	2505
				II	2507
3	कसायपाहुडसुत्त	,,	वीर शासनसघ, कलकत्ता	I	2481
4	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल अगास	III	2495
5	कातन्त्ररूपमाला	,,	बाबूलाल जैन, एण्ड सन्स, देहली		1981
6	छहढाला	,,	बाहुबली दि जैन पाठशाला, नसीराबाद	II	2513
7	जयधवला	,,	भा. दिगम्बर जैन सघ, मथुरा	I	
8	जीवकाण्ड	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	I	2504
				II	2505
9	जैनेन्द्रव्याकरण	,,	विद्याविलास मुद्रणालय, काशी	I	2449
10	तत्वार्थसूत्र	,,	शिखरचन्द सुरेन्द्रकुमार जैन, मोहनलाल शास्त्री मार्ग जवाहरगज, जबलपुर	XII	2510

11	तत्त्वार्थवृत्ति	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	I	2475
12	द्रव्यसग्रह	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	III	2505
1३	धवला (षट्खण्डागम)	,,	जैन साहित्योद्धारक सघ, अमरावती	I	
14	धर्मध्यान दीपक	,,	लाडमलजी जैन दशमप्रतिमाधारी	I	2504
15	निजामृतपान	,,	भागचन्द इटो सार्व न्यास, दमोह	I	1979
16	न्यायदीपिका	,,	वीरसेवा मन्दिर दिल्ली	II	1968
17	पञ्चास्तिकाय	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	III	2495
18	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	,,	कमल प्रिंटर्स, मदनगज (किशनगढ)	I	2499
19	प्राकृतपञ्चसग्रह	,,	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	I	1960
20	प्रवचनसार	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास	IV	2510
21	महाबन्ध	,,	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	I	2473
22	मूलाचार	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	I	1984
				II	1986
23	रत्नकरण्डक श्रावकाचार	,,	वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, बनारस	I	2498
24	राजवार्तिक	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	I	2479
				II	2484
25	लब्धिसार	,,	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी सस्था कलकत्ता	I	
26	श्लोकवार्तिक	,,	गाँधीनाथारग जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	I	2444
27	षट्प्राभृतसग्रह	,,	माणिकचन्द ग्रन्थ माला बम्बई	I	2447
28	समयसार	,,	परमश्रुत प्रभावक मण्डल अगास	III	2508
29	सर्वार्थसिद्धि	,,	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, देहली	III	2512
30	साख्यकारिका				

अकिंचित्कर

सम्यग्दर्शन की महिमा—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४।
(रत्नकरण्डश्रावकाचार)

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डश्रावकाचार मे सम्यग्दर्शन की महिमा सक्षेप मे इस प्रकार व्यक्त की है—तीन काल व तीन लोक मे यदि कोई सुखप्रद वस्तु है तो वह सम्यक्त्व तथा दु खप्रद तो मिथ्यात्व। जब हम सभी सुखाभिलाषी और दु खभीरु है तब हमारा प्रयास सुखप्रद वस्तुओ के लाभ तथा दु खप्रद वस्तुओ के अभाव के प्रति आवश्यक है ।

सुखप्रद वस्तुओ के लाभ के लिए समुचित साधन आपेक्षित है, क्योकि कार्य की उत्पत्ति के लिए सभी दार्शनिको ने कार्य-कारण की व्यवस्था मानी है । उन्होने कहा—कार्य बिना कारण के उत्पन्न नही हो सकता ।[1] अत. हितकारी और अहितकारी कार्यो का उत्पादन किन-किन कारणो से हो रहा है यह समझना व हितकारी कार्य के प्रति उद्यम करना आवश्यक है । जहाँ तक समझने की बात है वह हमे मात्र स्वय की बुद्धि से नही समझना बल्कि वह जिनेन्द्र

१ (अ) ण च कारणमन्तरेण कज्जस्सुप्पत्ती कहि पि होदि, अणवट्ठाणादो । ध ६ पृ १६६ ।
(ब) कारणेण विणा कज्जुप्पत्तिविरोहादो । ध ७ पृ ७० ।

कथित तथा आचार्यो द्वारा सपालित वाणी से ही शुरू होना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वय कहा—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहिय णाय सीसेण य भद्दबाहुस्स॥[2]

अर्थात् भद्रबाहु के इस शिष्य द्वारा वही कहा गया जो कि जिनेन्द्रोपदिष्ट है। इसी तरह यहाँ धवला, जयधवला, गोम्मट्टसार, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि जो भी आर्षवचन है उन्ही के अनुरूप कहा जायेगा। इसमे आप सिद्धान्त, अध्यात्म व न्याय भी चाहे तो उस अनुरूप भी समझाने का प्रयास करूँगा।

सर्वप्रथम गुणो को और दोषो को जाने, कारण—

बिन जानें तै दोष-गुनन को, कैसे तजिये गहिये।[3]

इस ससार मे सम्यक् रत्नत्रय गुण-हितकारी है तथा ससार को बढाने वाले तीनरत्न-मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र दोष-अहितकारी।[4]

यह ससार को बढाने वाला अहितकारी-मिथ्यात्व क्या है, आता कैसे है? इसे लाता कौन है? इसके आने के साधन क्या है? इन सभी बातो का विश्लेषण पूर्वाचार्यो ने विभिन्न अनुयोगद्वारो के द्वारा किया है।[5]

---

२ भावपाहुड गाथा -६१।

३ छहढाला— ३/११।

४ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३।

५ (अ) किमणिओगद्दार णाम? अहियारो भणणमाणत्थस्स अवगमोवाओ॥
जयध ३ पृ ७।

(ब) किं केण कस्स कत्थ व केवचिर कदिविधो य भावो य।
छहि अणिओगद्दारे सव्वे भावाणुगतव्वा॥ मूला ७०७।

मिथ्यात्व का स्वरूप—

मिथ्यात्व का काम अतत्त्व-श्रद्धान कराना है।[6] अपने-अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होना चाहिए, उसे यह मिथ्यात्व नही होने देता। अर्थात् छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों का सम्यक् श्रद्धान इस मिथ्यात्व के उदय मे नष्ट हो जाता है।[7] या सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नही होती।[8]

मिथ्यात्व कैसे आता है ? इसे जानने के लिए हमे पहले आस्रव और बध की व्यवस्था को समझना होगा। आचार्यों ने आस्रव और बध की व्यवस्था गुणस्थानो के माध्यम से की है तथा प्रत्येक गुणस्थान मे होने वाले आस्रव और बध के कारणो का भी अलग-अलग सामान्य और विशेषरूप से उल्लेख किया है। गुणस्थानो का उत्पादन योग और मोह के निमित्त से होता है अत. उन्हे मोह और योगजन्य कहा जाता है।[9] प्रथम चार गुणस्थानो मे दर्शनमोह की मुख्यता है इससे आगे दसवे गुणस्थान तक चारित्रमोह की मुख्यता और अन्तिम चार गुणस्थानो मे योग की मुख्यता होती

६ (अ) मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। स सि २/६ पृ ११४।

(ब) तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मन तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहस्योदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। त रा वा २/६ पृ ८४।

७ सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनरूपाखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयनिजपरमात्मप्रभृति-षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहित वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति। द्र स टी १३ पृ २६।

८ जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्धा होदि, त मिच्छत्त। ध ६ पृ. ३८।

९ सखेओ ओघो त्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। जी का. ३ पृ ३४।

है।[10] इन सभी गुणस्थानो मे होने वाले आस्रव-बन्ध की व्यवस्था सभी पूर्वाचार्यो ने कषाय और योग के द्वारा ही मानी है।[11]

बन्ध के भेद व स्वरूप—

आगम मे बन्ध के चार प्रकार कहे गये है—प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध।[12] पहले क्रम से इन चारो बन्ध को समझ ले। प्रकृति का अर्थ आप जानते ही है, स्वभाव। जैसे—पूछा जाये—नीम की क्या प्रकृति है? तो कहा जायेगा—कडुवापन। और गुड की क्या प्रकृति है? मीठापन।[13]

---

१० (अ) आदिमचदुगुणट्ठाणभावपरूवणाए दमणमोहवदिरित्तसेसकम्मेसु विवक्खा-भावा। ध ५ पृ १९७।

(ब) एदे भावा णियमा दसणमोह पडुच्च भणिदा हु।
चारित्त णत्थि जदो अविरद अतेसु ठाणेसु ॥ जी का १२ पृ ४३।

(स) उपशान्तकषाये क्षीणमोहे सयोगकेवलिनि चैकसमयस्थितिक सातावेदनीय-मेव बध्नाति। तच्च योगहेतुकबन्ध कषायोदयस्य तेष्वभावात्। क का १०२ पृ ७३।

११ (अ) तत्र केचन मिथ्यादृष्ट्यादिसूक्ष्मसाम्परायिकगुणस्थानपर्यन्ताना जीवाना योगा मोहोदयेन अष्टाविंशतिभेदभिन्नमोहकर्मविपाकेन युक्ता। अपि पुन तत उपरि त्रिषु गुणस्थानेषु तेन मोहोदयवियुक्ता रहिता आस्रवा भवन्ति। का अ ८८ पृ ४४।

(ब) प्रकृतिबन्ध प्रदेशबन्ध इत्येतौ द्वौ योगनिमित्तौ वेदितव्यौ।
स्थितिबन्धोऽनुभवबन्ध इत्येतौ द्वावपि कषायहेतुकौ प्रत्येतव्यौ। रा वा ८/३ पृ ५६७।

(स) जोगा पयडि-पदेसे ट्ठिदि-अणुभागे कसायदो कुणदि। ध १२ पृ २८९।

(द) जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होति। क का २५७ पृ ३६३।

१२ (अ) सव्वेसि कम्माण ट्ठिदि-अणुभाग-पयडि-पदेसभेदेण बधो चउव्विहो चेव। ध १२ पृ २९०।

(ब) चतुर्विधा एव बन्ध इति ॥ मूला १२२७।

(स) प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधय। स सि ८/३ पृ २९४।

१३ (अ) प्रकृति स्वभाव। निम्बस्य का प्रकृति? तिक्तता। गुडस्य का प्रकृति? मधुरता। स सि ८/३ पृ २९४।

इसी प्रकार कर्म का भी एक स्वभाव होता है इसे ही प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्म प्रदेशो की सीमा/परिगणना निश्चित करने वाला या कर्मरूप से परिणत पुद्गल परमाणुओ की जानकारी करके उनकी सख्या/इयत्ता निर्धारित करना प्रदेशबन्ध है।[14] जिस कर्म की जो प्रकृति है उससे एक निश्चित समय तक अपने स्वभाव को न छोडना स्थिति बन्ध है[15] और आगत कर्मों की अलग-अलग अपनी-अपनी शक्ति / सामर्थ्य को अनुभाग बन्ध कहते है।[16]

ये चारो प्रकार के बन्ध प्रत्येक गुणस्थान मे होते हैं। जिनमे (कषाय के द्वारा स्थिति और अनुभाग बन्ध की, (और योग के द्वारा प्रकृति और प्रदेशबन्ध की) व्यवस्था होती है।[17] अत कषाय और योग यही बन्ध मे मुख्यतया कारणभूत है।

बन्ध व्यवस्था—

आगम मे अविरति तीन प्रकार की कही गयी है।[18] उनमे

(ब) यथा निम्बस्य का प्रकृति ? तिक्तता स्वभाव। गुडस्य का प्रकृति ? मधुरतास्वभाव। रा वा ८/३ पृ ५६७।

१४ (अ) इयत्तावधारण प्रदेश। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कधाना परमाणुपरिच्छेदेनावधारण प्रदेश। स सि ८/३ पृ २९५।

(ब) कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धाना परमाणुपरिच्छेदेनावधारण प्रदेश इति। रा वा ८/३ पृ ५६७।

१५ (अ) का ठिदी णाम ? जोगवसेण कम्मसरूवेण परिणदाण पोग्गलक्खधाण कसायवसेण जीवे एगसरूवेणावट्ठाणकालो ट्ठिदी णाम। ध ६ पृ १४६।

(ब) तत्स्वभावादप्रच्युति स्थिति। स सि ८/३ पृ २९५।

१६ को अणुभागो ? कम्माण सगकज्जकरणसत्तो अणुभागो णाम। जयध ५ पृ. २।

१७ (अ) पयडि-पदेसा जोगादो ठिदि-अणुभागा कसायदो त्ति सत्तण्ण पि दो चेव पच्चया होंति। ध १२ पृ २९०।

(ब) प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगाद्भवत स्थित्यनुभागबन्धौ कषायतो भवत ॥ क का २५७ पृ ३९४।

१८ अविरतिस्त्रिधा रा वा ६/१८ पृ ५२७।

प्रथम और द्वितीय गुणस्थान मे होने वाले बन्ध मे अनन्तानुवन्धी कृत अविरति की मुख्यता है। तीसरे और चौथे गुणस्थान मे अप्रत्याख्यानावरण एव पाँचवे गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरण सम्वन्धी अविरति पर बन्ध व्यवस्था निर्धारित है। इससे आगे अर्थात् छठवें गुणस्थान से लेकर दसवे गुणस्थान तक सञ्ज्वलन सम्वन्धी कषाय की मुख्यता से वन्ध चलता है। इस प्रकार के आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते है।

कहा भी है कि (जिसके उदय मे सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त करना सम्भव नही वह अनन्तानुवन्धी कषाय है।[19] जो देश सयम का घात करे वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय है।[20] सकल सयम की विघातक प्रत्याख्यानावरण कषाय है[21] तथा यथाख्यात चारित्र को न होने देने वाली कषाय सज्वलन नाम की है।[22] इस तरह दसवे गुण-

१९ (अ) एदेहितो वड्ढिद ससारो अणतेसु भवेसु अणुवध ण छड्डेदि त्ति अणताणुवधो ससारो। सो जेसि ते अणताणुवधिणो कोह-माण-माया-लोहा एदे चत्तारि वि सम्मत्त-चरित्ताण विरोहिणो, दुविहसत्ति सजुत्तत्तादो। ध ६ पृ ४२।

(ब) सम्मद्दसण-चरित्ताण विणासया कोह-माण-माया-लोहा अणतभवाणुवधण-सहावा अणताणुवधिणो णाम। ध १३ पृ ३६०।

२० (अ) अप्रत्याख्यान सयमासयम। तमावृणोतीति अप्रत्याख्यानावरणीयमु। त चउव्विह कोह-माण-माया-लोह भेएण। ध ६ पृ ४४।

(ब) ईषत प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानमिति व्युत्पत्ते अणुव्रतानामप्रत्यत्यानसंज्ञा। अपच्चक्खाणस्स आवारय कम्म अपच्चक्खाणावरणीय। ध १३ पृ. ३६०।

२१ (अ) पच्चक्खाण सजमो महव्वयाइ ति एयट्ठो। पच्चक्खाणमावरेंति त्ति पच्चक्खाणावरणीया कोह-माण-माया लोहा। ध ६ पृ ४४।

(ब) पच्चक्खाण महव्वयाणि, तेसिमावारण-कम्म पच्चक्खाणावरणीय। ध १३ पृ ३६०।

२२ (अ) सजमम्हि मलमुप्पाइय जहाक्खादचारित्तुप्पत्तिपडिवधयाण चारित्तावरणत्तविरोहादो। ते वि चत्तारि-कोह-माण-माया-लोहभेदेण। ध ६ पृ ४४।

स्थान तक तो कषाय की बात हुई। ग्यारहवे, बारहवे और तेरहवे गुणस्थान मे जो आस्रव व बन्ध है वह कषायरहित मात्र योगकृत है।[23] इन तीनो गुणस्थानो मे सातावेदनीय का ही आस्रव एव बन्ध है।[24] और उस बन्ध मे भी साता का अनुभाग भी घटिया किस्म का नही बल्कि क्रमश विशुद्धि बढने के कारण वहुत मृदु और मधुर होता है[25]। इसे ईर्यापथिकास्रव कहा जाता है। कोई प्रश्न कर सकता है कि यहाँ पर कषाय के अभाव मे स्थिति और अनुभागबन्ध कैसे होगा ? अत. थोडा इसे भी समझ ले।

इस प्रश्न के होते ही प्रतिप्रश्न होगा कि, इन गुणस्थानो मे साता वेदनीय का बन्ध क्या बिना स्थिति-अनुभाग के होता है, तो उसका आत्मा के साथ अवस्थान एव फल साता के रूप मे कैसे सम्भव है ? कारण, प्रकृति का अर्थ स्वभाव है और अनुभव का अर्थ है उस स्वभाव के अनुरूप उसे भोगना। ऐसी स्थिति मे योग के द्वारा जिस कर्म मे प्रकृति पडी तो उसमे अनुभाग भी होगा। और जब अनुभाग है तो स्थिति बन्ध भी अवश्यम्भावी है। अत इन गुणस्थानों मे चारो प्रकार का बन्ध स्वीकार करना होगा। मात्र यहाँ इतना अन्तर अवश्य होगा कि जैसा कषायो के सद्भाव मे स्थिति बन्ध होने पर उनमे आबाधाकाण्डक की रचना होती है परन्तु इन गुणस्थानो मे आबाधाकाण्डक की रचना न होकर एक समय के बाद ही उदय मे आ जाते हैं। अब उनका अन्तर्मुहूर्त्त या दो-तीन समय

(ब) सम्यक्ज्वलतीति सज्वलनम्। किमत्र सम्यक्त्वम् ? चारित्र सह ज्वलनम्। मम्मतदेससयलचरित्तजहक्खाद-चरणपरिणामे। घादति वा कसाया चउसोल असखलोगमिदा ॥ जी का. ४५ पृ ३९।

२३ तच्च योगहेतुकबन्धकषायोदयस्य तेष्वभावात्। क का १०२ पृ ७३।

२४ उपशान्तकषाये क्षीणमोहे सयोगकेवलिनि चैकसमयस्थितिकं सातावेदनीयमेव बध्नाति। क का १०२ पृ ७३।

२५ अप्प वादरमहुअ वहुअ ल्हुक्ख च सुक्किल चेव। ध. १३ पृ ४८।

प्रमादकषाययोगा बन्धहेतव' ऐसा कहा है।[29] जिसमे मिथ्यात्व अविरति आदि पाँच बन्ध के हेतु होते है। यह विचारणीय है। इसे भी समझना होगा। पहले मिथ्यात्व प्रत्यय को समझ लें।

तत्त्वार्थसूत्र की विभिन्न टीकाओं मे कहा गया है—"अनन्त-ससारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्"।[30] अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है और 'तदनुवन्धिनोऽनन्तानु-वन्धिन. क्रोधमानमायालोभा."[31] इस अनन्त मिथ्यात्व को बाँधने वाली कषाय अनन्तानुवन्धी है। विभिन्न टीकाकार व हिन्दी अनुवादकारो ने इस व्युत्पत्ति मे प्रयुक्त पदो का अर्थ अलग-अलग ढङ्ग से लिया है।[32] यहाँ हम व्याकरण के आधार पर शब्दो का

२९ तत्त्वार्थसूत्र ८/१।

३० स० सि० ८/९ पृ. ३०१।

३१ स० सि० ८,९ पृ ३०१।

३२ (१) अनन्त ससार का कारण होनेसे मिथ्यादर्शन अनन्त कहलाता है, तथा जो कषाय उसके अनुवन्धी हैं वे अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया और लोभ हैं। स सि ८/९ पृ ३०१।

(२) अनन्त ससार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनन्त कहते है, इस अनन्त मिथ्यात्व को बाधने वाली कषाय अनन्तानुवन्धी है। रा वा ८/९ पृ ७५२।

(३) अनन्त भवो को बाधना ही जिनका स्वभाव है वे अनन्तानुवन्धी कहलाते हैं। ध ६ पृ ४१।

(४) जो अनन्तभव के अनुवन्धन स्वभाव वाले होते हैं वे अनन्तानुवन्धी कहलाते हैं। अथवा अनन्तभवो मे जिनका अनुवन्ध चला जाता है वे अनन्तानुवन्धी कहलाते हैं। ध १३ पृ ३६०।

(५) अनन्त ससार का ' उसके बाधने वाले अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ हैं। क का. ३३ पृ २६।

(६) अनत ससार का उसको जो बाधती हैं या उसके साथ जो बँधती हैं वे अनन्तानुवन्धी हैं। क का. ४५ पृ. ३९।

(७) जिसका अन्त नही है उसे अनन्त कहते है। अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व उसका

सही अर्थ हृदयगम कराने का प्रयास करेंगे। क्योकि अर्थप्रत्यय और ज्ञानप्रत्यय, शब्द प्रत्यय के विना ठीक व सही प्रयोजन तक नही पहुँचते।[33]

प्रत्येक ग्रन्थ मे ऐसा कहा गया कि 'तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधमानमायालोभा' यह प्रयुक्त पद प्रथमा विभक्ति का बहुवचनान्त है जो कर्त्तापिने का सूचक है। कि च, संस्कृत मे वाक्य प्रयोग तीन प्रकार से होता है—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।[34] अब यह देखना है कि उपर्युक्त पद किस वाच्यगत है। प्रथम तो कर्मवाच्य व भाववाच्यगत यह पद नही, कारण इसमे कर्म का प्रयोग द्वितीया विभक्ति के एकवचन मे स्पष्ट है और कर्त्ता का प्रथमा

आश्रय पाकर जो बँधती हैं वह अनन्तानुबन्धी क्रोध लोभ हैं। जी का २६ पृ ५७।

(८) अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व या अनन्तभव के संस्कारकाल को अनुबध्नन्ति बाधती हैं इसलिये उन्हे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। जी का २८३ पृ ४७४।

(९) जो क्रोध, मान, माया और लोभ मिथ्यात्व बन्ध के कारण होते हैं वे अनन्तानुबन्धी हैं। त वृ ८/९ पृ ४७०।

(१०) अनन्तभवपर्यन्त रहते है तथा मिथ्यात्व, असयमादि से अनुबध-अविनाभावी स्वभाववाली होने से इनका अनन्तानुबन्धी नाम सार्थक है। मूला १२३४ पृ ३५७।

(११) जो क्रोध-मान-माया-लोभ अनन्त (मिथ्यात्व) से सम्बद्ध होते हैं उन्हे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। त वृ ९/१ पृ ४८०।

३३ (अ) तत्र च पञ्चास्तिकाना समो मध्यस्थो रागद्वेषाभ्यामनुपहतो वर्णपदवाक्यसन्निवेशविशिष्ट पाठो वाद, शब्दसमय शब्दागम इति यावत्। तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयोच्छेदे सति सम्यगवाय परिच्छेदो ज्ञानसमयो ज्ञानागम इति यावत्। तेषामेवाभिधानप्रत्यय-परिच्छिन्नाना वस्तुरूपेणसमवाय सघातोऽर्थसमय सर्वपदार्थ सार्थ इति यावत्। प का ३ पृ ९-१०

(अनुत.।)

३४ शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्। का व्र २/२०; आत्मनेपदानि भावकर्मणो.। का व्र २/३०। पृ ११५-११६।

विभक्ति के बहुवचन में। अब यह यदि कर्तृवाच्य में है तो यहाँ 'वे बांधती हैं' ऐसा अर्थ होगा। यदि कर्मवाच्य या भाववाच्य का प्रयोग होता भी तो वहाँ अर्थ 'बाँधी जाती हैं' होता और ऐसी अवस्था में पुनः प्रश्न हो जाता 'किसके द्वारा बाँधी जाती हैं?' तब कहा जाता मिथ्यात्व के द्वारा। लेकिन ऐसा भी सम्भव नहीं, क्योंकि प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय में बँधने वाली मात्र सोलह प्रकृतियाँ ही हैं।[35] अब यदि अनन्तानुबन्धी की चार और जुड़ जायें तो संख्या बढ़कर बीस हो जाएगी जो कि इष्ट नहीं। यदि कदाचित् कहो कि मिथ्यात्व के साथ ही इनका बन्ध होता है तो द्वितीय गुणस्थान में मिथ्यात्व के अभाव में अनन्तानुबन्धी के बन्ध का अभाव हो जाएगा, जबकि अनन्तानुबन्धी का बन्ध होता है तथा स्वीकार भी है।[36]

दूसरी 'अनुबध्नन्ति' पद में 'अनु' का अर्थ यदि पश्चात् लिया जायेगा तब भी अर्थ स्पष्ट व शुद्ध नहीं होगा। कारण यहाँ अर्थ होगा 'मिथ्यात्व का उदय पहले, बाद में अनन्तानुबन्धी का बन्ध' तो जो यहाँ बन्धकाल में होने वाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एकसमयवर्ती ही होना चाहिए था, वह नाना समयवर्ती हो जाएगा। किन्तु वह इष्ट नहीं है। इन सब से स्पष्ट है कि यहाँ 'बांधती हैं' ही अर्थ संगत है, होगा।

तत्त्वार्थवृत्तिकार ने तो इसे और भी स्पष्ट शब्द दिये हैं— "अनन्तं मिथ्यात्वं अनुबध्नन्ति सम्बन्धयन्ति इत्येवंशीला ये क्रोधमान-

---

35 सोलसकम्माणि मिच्छत्तपच्चयाणि, मिच्छत्तोदएण विणा एदेसिं बंधाभावादो। ध ८ पृ ७६।

36 अणंताणुबंधि चउक्क–थीवेद–चउसंठाण–चउसंघडण–दुभग–अणादेज्ज-णीचागोदाण बंधो सासणसम्मादिट्ठिम्हि सम वोच्छिज्जदि, ण मिच्छादिट्ठिम्हि, अणुवलंभादो। ध ८ पृ २१०।

37 त वृ ८/९ पृ २६७।

'मिथ्यात्व के द्वारा भी स्थितिबन्ध होता है' ऐसा मुझे एक भी जगह आगम मे देखने मे नही आया। यदि मिले, तो अवश्य दिखाइयेगा।)

दूसरा, दर्शनमोहनीय को चारित्रमोहनीय कषायो मे सम्मिलित भी नही किया।[45] मोहनीय का परिवार अट्ठाईस प्रकृतियो का ही है[46] यह सभी जानते है। लेकिन कषायों मे पच्चीस प्रकृतियो की ही परिगणना की है।[47] उन पच्चीस मे सोलहकषाय और नौ नोकषाय ही हैं।[48] साथ यह भी स्पष्ट कह दिया गया कि दर्शनमोहनीय की प्रकृति चारित्रमोहनीय रूप मे सक्रमित नही हो सकती, और ना ही चारित्रमोहनीय की दर्शन-मोहनीय रूप ही।[49] ऐसी स्थिति मे दर्शनमोहनीय को कषाय मानना और उससे स्थितिबन्ध मानना कहाँ तक उचित है, यह स्वय विचारें।

मिथ्यात्व मे सत्तर कोटाकोटिसागर की स्थिति पडती है तो वह कब किसे कैसे पड़ती है ? यह प्रश्न अवश्य ही विचारणीय है। मैं पूछना चाहूँगा कि, क्या दर्शनमोहनीय के उदय मे अर्थात् मिथ्यात्व के उदय मे प्रत्येक जीव को व प्रत्येक समय सत्तर

४५ षोडश कषाया नव नोकषायास्तेषामीषद्भेदो न भेद इति पञ्चविंशति-कषाया। स सि ८/१ पृ ३७५।

४६ मोहणीयस्स कम्मस्स अट्ठावीस पयडीओ। ध ६ पृ ४०।

४७ कइविहो कसायो ? कसाय-णोकसायभेएण दुविहो, पचवीसविहो वा। जयध १ पृ २६३।

४८ ज त चारित्तमोहणीय कम्म तं दुविह, कसायवेदणीयं चेव णोकसाय-वेदणीय चेव। ध ६ पृ ४०-४५।

४९ (अ) दसणमोहणीयस्स चारित्तमोहणीयसकमाभावादो। जयध ३ पृ २३४।

(ब) दसणमोहणीय चारित्तमोहणीयाणि एक्केक्कम्मि ण सकमति। जयध ८ पृ ३३।

(स) दसणमोहणीय चरित्तमोहणीए ण सकमदि। ध १६ पृ ३४१।

स्थितिवन्ध होता है।[53] और कषाय की तीव्रता ही मुख्यतया तीव्र-संक्लेश का कारण है।[54] इसलिए मिथ्यात्व के उदय मे अनन्तानुवन्धी कषाय की तीव्रता मे मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थितिवन्ध होने मे कोई वाधा नही है। मिथ्यात्व गुणस्थान मे सज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक के शुक्ल लेश्या भी रह सकती है लेकिन शुक्ललेश्या के कारण वह मात्र अन्त कोटाकोटि सागर से अधिक स्थितिवन्ध नही करेगा।[55] इसका तात्पर्य हुआ कि कषाय की मन्दता मे उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सम्भव नही। मिथ्यात्व मे कम या ज्यादा जो भी स्थिति पड़ेगी वह अनन्तानुवन्धी कषाय की मन्दता और तीव्रता पर ही निर्भर होगी। (अर्थात् प्रथम गुणस्थान मे अनन्तानुवन्धी अपने तीव्रोदय मे मिथ्यात्व मे सत्तर कोटाकोटिसागर की उत्कृष्टस्थिति डालने की क्षमता रखती है, अन्य कोई सक्षम नही। अव भले ही अनन्तानुवन्धी की स्थिति चालीस कोटाकोटिसागर की पडे, लेकिन उसे मिथ्यात्व मे सत्तरकोटाकोटिसागर की स्थिति डालने की क्षमता है। जैसे एक माँ स्वय भले ही कम खाती हो, लेकिन परिवार के अन्य सदस्यो को अधिक से अधिक खिलाने की क्षमता-ममता अवश्य ही रखती है। या वाजार मे व्यापारी के पास नगद राशि दस हजार ही हो फिर भी वह लाखो के व्यापार की क्षमता रखता है—करता है।)

अनन्तानुवन्धी की विशेषता—

(कोई कह सकता है—महाराज ! जव अनन्तानुवन्धी ही वन्ध व्यवस्था करती है तो सूत्र मे मिथ्यात्व के स्थान पर अनन्तानुवन्धी

५३ सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दु उक्कस्ससकिलेस्सेण। क. का १३४ पृ १३०।

५४ यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि सक्लेशस्थानानि। स.सा. ५४ पृ ६५।

५५ जयध ३ पृ ६।

ही कह देते ! लेकिन आचार्यो ने ऐसा नही कहा ?) क्यो नही कहा ?.. तो सुनो ! मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी एक नही है। गुणस्थानो मे उनकी अपनी-अपनी महत्ता है। मिथ्यात्व के साथ प्रथम गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी तो नियम से रहेगी ही, लेकिन दूसरे गुणस्थान मे मिथ्यात्व के अभाव मे भी अनन्तानुबन्धी रहती है।[56] अब यदि मिथ्यात्व के स्थान पर अनन्तानुबन्धी को रख देते तो प्रथम और द्वितीय गुणस्थान का अन्तर ही समाप्त हो जाता। दोनो अलग-अलग गुणस्थानो मे अपनी-अपनी मुख्यता रखते हैं। दोनो को एक नही कहा जा सकता। धवलादि ग्रन्थो मे स्पष्ट ही कहा गया है कि मिथ्यात्व के साथ उदय मे रहने वाली कषाय जो कि अनन्तानुबन्धी है वह सम्यक्त्व और चारित्र दोनो का घात करने वाली होती है।[57]

अनन्तानुबन्धी कषाय को लेकर तत्त्वार्थराजवार्तिक मे एक विशेष बात और कही गयी है—यह कषाय मिथ्यादर्शनरुपी फलों को उत्पन्न करती है। अर्थात् मिथ्यादर्शन को उदय मे आने के लिए रास्ता खोल देती है।[58] इसलिए सूत्र मे अनन्तानुबन्धी नही रखा

---

५६ तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुवन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीव सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। रा वा ६/१ पृ. ५८८।

५७ (अ) सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिवन्ध्यनन्तावन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र (सासादनगुणस्थाने) सत्त्वाद् भवति। ध १ पृ १६४।

(ब) सो जेसिं ते अणताणुवधिणो-कोध-माण-माया-लोहा। एदे चतारि वि सम्मत्त-चारित्ताण विरोहिणो, दुविहसत्तिसजुत्तत्तादो। ध ६ पृ ४२।

(स) आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीयाघ्नन्त्यणुव्रत। तृतीया सयम तुर्या यथाख्यात ऋघादय॥ स सा ता १७८ पृ २४६।

५८ अतएवास्यान्वर्थसज्ञा-अनन्त मिथ्यादर्शन तदनुबन्धनादनन्तानुवन्धीति। स हि मिथ्यादर्शनोदयफलमापादयन् मिथ्यादर्शनमेव प्रवेशयति। रा वा ६/१ पृ ५८६।

गया होगा। लेकिन इससे ऐसा भी नही मानना चाहिए कि मिथ्यात्व ही सब कुछ है अनन्तानुबन्धी कुछ नही।

मिथ्यात्वादि प्रत्यय एवं उनके साथ प्रकृतियों का अन्वय-व्यतिरेक—

तत्त्वार्थसूत्र मे कहे गये सूत्र के विषय मे कहा गया है कि पूर्व-पूर्व प्रत्ययो के रहने पर आगे-आगे के प्रत्यय नियमात्मक रूप से होते है।[59] अर्थात् जहाँ पर मिथ्यात्व प्रत्यय रहेगा, वहाँ पर अविरति आदि चारो अन्य प्रत्यय भी रहेगे।[60] लेकिन आगे-आगे के प्रत्ययो के साथ पूर्व-पूर्व के प्रत्ययो के न रहने का नियम है। जैसे—सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरति-सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानो मे मिथ्यात्व के अभाव मे शेष चार प्रत्यय अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेगे ही। सयतासयत नामक पाँचवे गुणस्थान मे (विरताविरत रूप) अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेगे। प्रमत्त गुणस्थान मे प्रमाद, कषाय और योग रहेगे।[61] कही-कही पर प्रमाद प्रत्यय को कषाय के अन्तर्गत भी ग्रहण कर लिया जाता है, कारण कि प्रमाद, सज्वलन

---

५९ तत्र मिथ्यादृष्टे पञ्चापि समुदिता बन्धहेतव। सासादनसम्यग्दृष्टयाद्य-सयत-सम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारश्च। सयतासयतस्याविरतिमिश्रा प्रमादकषायोगाश्च। प्रमत्तसयतस्य प्रमादकषाययोगा। अप्रमत्तादीना चतुर्णां कषाययोगौ। उपशान्तक्षीणकषायसयोगकेवलिना एक एव योग। अयोगिकेवली अबन्धहेतु। रा वा ८/१ पृ ५६४।

६० न चैवमेकैकहेतुक एव बन्ध पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन्नुत्तरस्योत्तरस्य बन्धहेतो सद्भावात्। आ प २ पृ ३

६१ चदुपच्चइगो वधो पढमे उवरिमतिए तिपच्चइओ।
मिस्सगविदिओ उवरिमदुग च सेसेगदेसम्हि॥
उवरिल्लपच्चए पुण दुपच्चओ जोगपच्चओ तिण्ण।
सामण्णपच्चया खलु अट्ठण्ण होति कम्माण। ध ८ पृ २४। एव क का ७८७–७८८।

कषाय की तीव्रोदय की अवस्था ही है।[62] आगे अप्रमत्तसंयत से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो ही प्रत्यय होते है तथा आगे के शेष तीन गुणस्थानो मे योग-प्रत्यय मात्र कहा गया है। इस प्रकार प्रत्ययो का विभाजन गुण-स्थानो की विवक्षा से किया गया है।[63]

जैसा पूर्व मे कहा था, आगम मे अविरति के तीन भेद किये गये हैं।[64] अविरति कहो या असयम कहो, वात एक ही है, दोनो समानार्थक शब्द है।[65] अनन्तानुवन्धीकृत अविरति, अप्रत्याख्याना-वरणकृत अविरति और प्रत्याख्यानावरणकृत अविरति। यह असयम

---

६२ को पमादो णाम ? चदुसजलण-णवणोकसायाण तिव्वोदओ। चदुण्ह वधकारणाण मज्झे कत्थ पमादस्सतब्भावो ? कसायेसु कसायवदिरित्त-पमादाणुवलभादो। घ ७ पृ ११।

६३ मिथ्यादृष्टे पञ्चाप्यास्रवा वन्धहेतवो भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टे सम्यग्मिथ्यादृष्टेरसयतसम्यग्दृष्टेश्चाविरतिप्रमादकषाययोगलक्षणाश्चत्वार आस्रवा वन्धहेतवो भवन्ति। सयतासयतस्य आर्यश्रावकश्राविकालक्षणस्य विरतिमिश्रा ह्यविरतिरास्रवो भवति, प्रमादकषाययोगाश्च तत्र आस्रवा भवन्ति। प्रमत्तसयतस्य प्रमादकषाययोगलक्षणा आस्रवास्त्रयो भवन्ति। अप्रमत्तापूर्वकरणवादरसाम्परायसूक्ष्मसाम्परायाणा चतुर्णा कषायो योग-श्चास्रवद्वय भवति। उपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवलिनामेको योग एवास्रव. अयोगकेवलिनस्तु आस्रवो नास्ति। त वृ ८/१ पृ २५६।

६४. (अ) असयमस्त्रिविधो वेदितव्य। कुत. ? अनन्तानुवन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानविकल्पात्। रा वा ६/१ पृ ५६०।

(ब) असयमस्तावत् त्रिविधो भवति। ते के त्रयो विधा ? अनन्तानुवन्धिकषा-योदय अप्रत्याख्यानकषायोदय प्रत्याख्यानकषायोदयश्चेति। त वृ ६/१ पृ ४७६।

६५ विरमण विरति न विद्यते विरतिरस्येत्यविरति अथवा अविरतमविरतिर-सयम इत्यनर्थभेद। जयध. ५ पृ ७७७।

भी कषायों द्वारा ही उत्पन्न होता है।[66] प्रथम और द्वितीय गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धीकृत अविरति की मुख्यता रहती है। आगे के गुणस्थानो मे अनन्तानुबन्धी के अभाव मे अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यानजन्य अविरति ही रहती है। इसका तात्पर्य यही है कि मिथ्यात्व प्रत्यय के उदय मे प्रथम गुणस्थान मे जो बन्ध होगा वह मिथ्यात्व प्रत्यय नही करेगा, वह तो प्रथमगुणस्थान मे मुख्यता से रहने वाली अनन्तानुबन्धी अविरति, कषाय और योग के द्वारा ही होगा। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानो की व्यवस्था रहती है। वहाँ गुणस्थानो के योग्य द्रव्यप्रत्ययो के द्वारा आत्मा के क्रोधादि परिणामरूप भावप्रत्यय बन्ध कराने वाले होंगे।

यही कारण है कि आचार्यो ने मिथ्यात्वादि प्रत्ययो के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखने वाली अलग-अलग प्रकृतियो का भी वर्णन किया है। मिथ्यात्व के उदय के साथ अन्वय-व्यतिरेक रखने वाली सोलह प्रकृतियाँ कही गयी हैं।[67] अन्वय का अर्थ है कि एक के सद्भाव मे दूसरे का सद्भाव और व्यतिरेक का अर्थ—एक के अभाव मे दूसरे का भी अभाव होना।[68] जैसा मिथ्यात्व के साथ कहा वैसा ही अनन्तानुबन्धी के उदय के साथ भी पच्चीस प्रकृतियो का अन्वय-व्यतिरेक होता है।[69] अप्रत्याख्यानावरण के उदय के साथ दस

---

६६ न ६४ (ब) ही दृष्टव्य है।

६७ (अ) तत्थ मिच्छत्त-णवु सयवेद-णिरयाउ-णिरयगइ—एइंदिय-बीइंदिय-तीइंदिय-चतुरिंदिय जादि-हुंडसठाण-असपत्तसवट्ट सरीरसघडण-णिरयगइपाओग्गाणुपुव्वी आदाव-थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारणाण सोलसण्ह पयडीण बधस्स मिच्छत्तुदओ कारणं, तदुदयण्णय-वदिरेगेहि सोलसपयडीबधस्स अण्णयवदिरेगाणमुवलभादो। घ ७ पृ १०।

(ब) मिच्छाइट्ठिह्मि णट्ठबन्धसोलसपडीण बधस्स मिच्छत्तोदओ चेव पच्चओ तेण विणा तासि बधाणुवलंभादो। घ ८ पृ. ५१।

६८ देखें, जैनसिद्धान्तप्रवेशिका खण्ड प्रथम प्रश्न--७१ एव ७२ पृ. १२।

६९ सासणम्मि णट्ठबधपणुवीसपयडीण अणताणुबधीणमुदओ चेव पच्चओ, तेण विणा तासि बधाणुवलभादो। घ ८ पृ ६१ तथा क.का ९६ पृ ६९।

प्रकृतियो का[70] तथा प्रत्याख्यानावरण के उदय के साथ चार प्रकृतियो का अन्वय-व्यतिरेक कहा गया है।[71] प्रमाद के साथ छह,[72] सज्वलन कषाय के उदय के साथ अट्ठावन प्रकृतियो का[73] और योग के साथ एक मात्र साता वेदनीय का अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार किया गया है।[74] इसे इस तरह समझे—जब मिथ्यात्व, नपुसकवेद, नरक आयु नरकगति आदि सोलह प्रकृतियाँ बँधेगी, उस समय

७० अपच्चक्खाणावरणीयकोध-माण-माया-मणुस्साउ-मणुस्सगदी-ओरालिय-सरीर-अगोवग-वज्जरिसहसघडण-मणुस्सगदीपाओग्गाणुपुव्वीणबधस्स अपच्चक्खाणावरणचदुक्कस्स उदओ कारण, तेण विणा एदासिं बधाणुवलभा। ध ७ पृ ११। तथा क का ९७ पृ ७०।

७१ (अ) पच्चक्खाणावरणीय क्रोध-माण-माया लोभाण बधस्स एदासिं चेव उदओ कारण सोउदए विणा एदासिं बधाणुवलभा। ध ७ पृ ११।

(ब) देशव्रतगुणस्थान चरमसमये स्वोदयेहेतुबधत्वात् प्रत्याख्यानावरणाव्युच्छिद्यन्ते नियमेन। क का ९७ पृ ७०।

७२ (अ) छट्ठे अथिर असुह आसादमनस च अरदिसोग च।
अपमत्ते देवाऊ णिट्ठवण चेव अत्थित्ति ॥ क का ९८ पृ ७१।

(ब) पमत्तसजदम्मि णट्ठबधछप्पयडीण बधस्स पमादो पच्चओ, तेण विणा तदणुवलभादो। ध ८ पृ ५१।

७३ मरणूणम्मि णियट्टीपढमे णिद्दा तहेव पयला य।
छट्ठेभागे तित्थ णिमिण सग्गमणपचिंदी ॥
तेजदुहारदुसमचउसुरवण्णगुरुगचउक्कतसणवय ।
चरिमे हस्स च रदी भय जुगुच्छा य बोच्छिण्णा ॥
पुरिस चदु सजलण कमेण अणियट्टि पचभागेसु।
पढम विग्घ दसणचउ जस उच्च च सुहुमते ॥ क का ९९-१०१ पृ ७१-७२।

७४. (अ) सादावेदणीयबधस्स जोगो चेव कारण, मच्छत्तासजमकसायाणमभावे वि जोगेणेक्केण चेवेदस्स बधुवलभादो तदभावे तदणुवलभादो। ध ७ पृ १३।

(ब) उवसतखीणमोहे जोगिम्मि य समइयट्ठिदी साद।
णायव्वो पयडीण बधस्सतो अणतो य ॥ क का १०२ पृ ७३।

मिथ्यात्व का उदय अनिवार्य है। किन्तु जब मिथ्यात्व का उदय हो तो शेष पन्द्रह प्रकृतियाँ बँधे, ऐसा नियम नही है। लेकिन, उनमे से जिस किसी भी प्रकृति का बन्ध होगा तो वह मिथ्यात्व के उदय मे ही होगा अन्यथा नही। इस अन्वय-व्यतिरेक को ध्यान मे रखकर भी मिथ्यात्वादि प्रत्ययो का अलग से कथन किया गया है।

गुणस्थानों मे गत्यागति का क्रम—

आचार्यो ने प्रत्येक विषय का बडी सूक्ष्मता के साथ विवक्षा को ध्यान मे रखकर ही कथन किया है। गुणस्थानो की व्यवस्था भी दो तरह से की गयी है। गुणस्थानों का कथन एक व्याख्या क्रम से और दूसरा उत्पत्ति क्रम से किया गया है। व्याख्या क्रम की अपेक्षा देखा जाए तो प्रथम गुणस्थान के उपरान्त द्वितीय, तृतीय आदि गुणस्थान क्रम से आयेंगे।[75] लेकिन उत्पत्ति क्रम इससे भिन्न है। सादिमिथ्यादृष्टि की अपेक्षा प्रथम गुणस्थान के उपरान्त तृतीय या चतुर्थ, कोई-सा भी हो सकता है।[76] सीधे पाँचवाँ या सातवाँ भी हो सकता है।[77] लेकिन जब कोई अनादिमिथ्यादृष्टि जीव यदि उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो उसको सर्वप्रथम

७५ मिच्छादिट्ठी सासादणो य मिस्सो असजदो चेव। मूला ११९७ पृ ३१३।

७६ एक्को सम्मामिच्छादिट्ठी परिणामपच्चएण मिच्छत, सम्मत वा पडिवण्णो अतरिदो। अतोमुहुत्तेण भूयो सम्मामिच्छत्त गदो। ध ५ पृ ११

७७ (अ) एक्को अट्ठावीससतकम्मियमिच्छादिट्ठी असजदसम्मादिट्ठी पमत्तसजदो वा पुव्व पि बहुसो सजमासजमगुणट्ठाणे परियट्ठिदो परिणामपच्चएण सजमासजम पडिवण्णो। ध ४ पृ ३४९।

एक्को अट्ठवीससतकम्मिओ अण्णगदीओ आगतूण मणुसेसु उप्पज्जिय गब्भादि अट्ठवस्सिओ जादो। सम्मत्तं अप्पमतगुण च जुगवपडिवण्णो। ध ५ पृ ५३।

(ब) मिथ्यादृष्टि सासादनप्रमत्ते वर्जित्वा मिश्राद्यप्रमत्तातानि चत्वारि-गुणस्थानि समाश्रयन्ति। क का टी ५५७-५५८ पृ ९०३।

चतुर्थगुणस्थान ही होगा।[78] यदि सयमासयम को ग्रहण करेगा तो पचम गुणस्थान प्राप्त होगा।[79] और यदि सयम को भी ग्रहण कर ले तो युगपत् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्धि होने से वह सप्तम गुणस्थान को प्राप्त करेगा।[80] (द्वितीय गुणस्थान नीचे गिरने की अपेक्षा होता है[81] तथा तृतीय गुणस्थान गिरने व चढने दोनो की अपेक्षा से प्राप्त किया जाता है।[82] सप्तम गुणस्थान से च्युत हुये सयमी को छठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है।[83] इस तरह गुणस्थान का उत्पत्तिक्रम व व्याख्याक्रम अलग-अलग है।)

व्याख्याक्रम की अपेक्षा इन गुणस्थानो की प्राप्ति निम्न प्रकार से होती है—प्रथम गुणस्थान मे सोलह प्रकृतियो की बन्ध व्युच्छित्ति होती है। इसका आशय यह है कि उन प्रकृतियो का बन्ध दूसरे आदि गुणस्थानो मे नही होता।[84] द्वितीय गुणस्थान मे

---

७८ एक्केण अणादिमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण पढमसम्मत गेण्हतेण अणतो ससारो छिदिदूण गहिदसम्मत्त पढमसमए अद्धपोग्गल-परियट्टमेत्तो कदो। ध ५ पृ १४।

७९ सम्मत्तेण सह गहिदसजमासजमेण अतोमुहुत्तमच्छिय। ध ५ पृ १५।

८० एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि वि करणाणि करिय उवसम-सम्मत्तमप्पमत्तगुण च जुगव पडिवण्णेण छेत्तूण अणतो ससारो अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो पढमसमए कदो। ध ५ पृ १६।

८१ जेत्तियाए उवसमसम्मत्तद्धाए सेसाए जीवो सासण पडिवज्जदि तेत्तिओ चेव सासणगुणकालो होदि त्ति, आइरिय परपरागदुवदेसा। ध. ४ पृ ३४१।

८२ (अ) वेदगसम्मादिट्ठी सकिलिस्समाणो सम्मामिच्छत्त गदो। ध ४ पृ ३४५।
(ब) एक्को मिच्छाइट्ठी विसुज्झमाणो सम्मामिच्छत्त पडिवण्णो। ध ४ पृ ३४४।

८३ अप्पमत्तसजदो किमिदि सम्मामिच्छत्त ण णीदो ? ण तस्स सकिलेस-विसोहीहि सह पमत्तापुव्वगुणे मोत्तूण गुणतरगमणाभावा। ध ४ पृ ३५३

८४ मिच्छत्त-णवुसयवेद साहारणसरीराण को बधो को अबधो ? मिच्छाइट्ठी बधा। एदे बधा अवसेसा अबधत्ता॥ ध ८ पृ ४२-४३।

पच्चीस प्रकृतियों की बन्ध व्युच्छित्ति कही गयी है।[85] लेकिन यदि उत्पत्तिक्रम की अपेक्षा देखे तो प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान मे जाने वाले जीव के प्रथम, द्वितीय और तृतीय तीनो गुणस्थानोमें व्युच्छिन्न होने वाली क्रमश. सोलह-पच्चीस-शून्य-ऐसी इकतालीस प्रकृतियो की बन्ध-व्युच्छित्ति एक साथ प्रथम गुणस्थान मे ही हो जाती है। क्योकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के सम्मुख हुआ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव विशुद्ध-परिणामो को बढाता हुआ प्रायोग्यलब्धि के प्रथम समय से लेकर क्रम-क्रम से चौतीस प्रकृतियो का बन्धापसरण करता है।[86] इसके उपरान्त सम्यक्त्व परिणाम के माहात्म्य से मिथ्यात्व के तीन खण्ड करता है।[87] और इस तरह मिथ्यात्व सम्बन्धी तीन प्रकृतियो के उपशम और अनन्तानुबन्धी के अनुदय रूप उपशम से 'उपशम-सम्यग्दृष्टि' इस संज्ञा को प्राप्त होता है।[88] इस प्रकार से इकतालीस प्रकृतियो की बन्ध-व्युच्छित्ति चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त होने वाले मिथ्यादृष्टि जीव करते है।

---

८५ सोलस पणवीस णभचदु छक्केक्क बधवोच्छिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥ क का ९४ पृ. ६८।

८६ तत्तो उदय सदस्स य पुधत्तमेत्तं पुणो पुणोदरिय।
बधम्मि पयडि बधुच्छेदपदा होंति चोतीसा ॥ ल सा १० पृ ९।

८७ ताधे चेव तिण्णि कम्मसा उप्पादिदा।
तम्हि चेव उवसतदसणमोहणीयपढमसमए तिण्णि कम्मसा उप्पादिदा। जयध. १२ पृ २८१।

८८ एदम्मि (अणताणुबधिचउक्कस्स दसणमोहत्तयस्स च) सत्तण्ह पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्ठी होदि। ध १ पृ. १७१।

बन्ध व्युच्छित्ति और बन्धापसरण मे अन्तर—

बन्ध व्युच्छित्ति और बन्धापसरण मे इतना ही अन्तर है कि बन्धापसरण मे चौतीस प्रकृतियाँ बन्ध योग्य समय मे कुछ पहले ही व्युच्छिन्न हो जाती हैं। अर्थात् व्युच्छित्ति का स्थान व काल आने से पहले ही व्युच्छिन्न—बन्ध रुक जाता है।[८९] इसे एक उदाहरण से समझ लेते हैं—किसी म० प्र० के ट्रक वाले के पास उत्तरप्रदेश मे जाने का लाइसेस है, तो उसे दोनो प्रदेशो की सीमा पर रुककर अपना लाइसेस बताकर ही सीमा पार करनी होती है। सीमा पार हो जाने पर अब कोई डर नही रह जाता। उसे कही भी रोक-टोक नही होगी। यह तो बन्धव्युच्छित्ति हुई। लेकिन सीमा तक पहुँचने से पूर्व ट्रक वाले को जो जगह-जगह पर बेरियर लगे हैं उन पर रुकना पडता है। उन पर भी अपनी गाडी का परमिट चैक कराना पड़ता है, तभी आगे-जाने का रास्ता साफ होता है। यही स्थिति बन्धापसरण की भी है। अर्थात् इसमे अपनी सीमा आने से पूर्व ही कुछ प्रकृतियो की व्युच्छित्ति हो जाया करती है।

विसंयोजना सम्बन्धी समाधान—

यहाँ पर स्वाध्यायी जीवो की दृष्टि हमेशा जाती है और जाकर रुक जाती है, समाधान नही मिल पाता है। अत वे शका करते है—महाराज! अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय से जब मिथ्यात्व गुणस्थान मे आता है तो उसके एक आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का

---

८९ दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम करने वाले जीव के असातावेदनीय कर्म, स्त्रीवेद, अरति, शोक, चारो आयु, नरकगति, पचेन्द्रिय जाति के बिना चार जाति, प्रथम सस्थान के बिना पाँच सस्थान प्रथम सहनन के बिना पाँच सहनन नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, अप्रशस्तविहायोगति स्थावर सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय और अयशकीर्ति, ये प्रकृतियाँ बन्धस्थान से पहले ही व्युच्छिन्न हो जाती हैं। क पा सु पृ ६१७–६१८ ।

अनुदय रहता है। तब ऐसी स्थिति मे आपका यह कहना कि मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी का सद्भाव हमेशा रहता है और मिथ्यात्व मे स्थिति व अनुभाग डालने वाली कषाय अनन्तानुबन्धी ही है—ठीक नही। क्योकि एक आवली तक अनन्तानुबन्धी का अनुदय रहने से वहाँ बन्ध व्यवस्था कैसे बनेगी ?

भैय्या ! इस गहन विषय को समझने के लिए हमे धवला, जयधवलादि जैसे महान् आर्ष ग्रन्थो का अध्ययन-मनन-चिन्तन करने की आवश्यकता होगी। पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक व्यवस्थाएँ विवक्षाओ को ध्यान मे रखकर की है। अत हम उन्हें उनके अभिप्रायानुसार ही समझने की चेष्टा करे।

विसंयोजना की परिभाषा, स्वामी एवं अध्वान––

विसयोजना का अर्थ है––अनन्तानुबन्धी कषाय सम्बन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ का परप्रकृतिरूप अर्थात् शेष बारह कषाय और नौ नोकषाय रूप परिणमा देना।[९०] अनन्तानुबन्धी की विसयोजना वेदकसम्यग्दृष्टि[९१] और उपशम सम्यग्दृष्टि[९२] दोनो ही कर सकते है। विसयोजना की सीमा चतुर्थगुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान पर्यन्त है।[९३] अर्थात् इन गुणस्थानो मे कही भी

---

९० का विसयोजणा ? अणताणुवधिचउक्कक्खधाण परमरूवेण परिणमण विसयोजणा। जयध २ पृ २१९।

९१ अट्ठावीससत कम्मिएण अणताणुवधी विसजोइये चउवीस विहत्तियो होदि। को विसंजोअओ ? सम्मादिट्ठी। जयध २ पृ २१८।

९२ देखें—न० ९१।

९३ (अ) सत्थाणसजदउवक्कस्सगुणसेडिगुणगारादो असजदसम्मादिट्ठी-सजदासजदा-सजदेसु अणताणुबधि विमजोएतस्स जहण्णगुणसेडिगुणकारो असखेज्जगुणो। ध १२ पृ ८२।

(ब) असयतादिचतुर्गुणस्थानवर्तिनोऽनिवृत्तिकरणपरिणामकालान्तर्मुहूर्तचरम-समयेऽनन्तानुबन्धिकषायचतुष्क ॥ ३३५ ॥ युगपदेव विसयोज्य द्वादश-कषायनवनोकषायरूपेण परिणामय्य । क का ३३५–३३६ पृ ५५५।

विसंयोजना की जा सकती है। विसंयोजना केवल अनन्तानुबन्धी चतुष्क की ही होती है।[९४] विसयोजना और क्षय मे यही अन्तर है कि विसंयोजना मे विसंयोजित किया गया द्रव्य अपना अब्वान—बन्धोदय की सीमा व काल प्राप्त होते ही पुन सयोजित हो जाता है। जबकि क्षय होने पर यह सम्भव नही है।

संयोजना होने का कारण—

जब कोई वेदक या उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करता है तो विसयोजना के उपरान्त वह मोहनीय की चौबीस प्रकृतियो की सत्ता वाला हो जाता है। क्योकि अट्ठाईस प्रकृतियो मे से अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियाँ विसंयोजित कर दी गयी हैं।[९५] किन्तु ज्यो ही ऐसा जीव मिथ्यात्व के उदय से प्रथम गुणस्थान या सासादन परिणाम के कारण द्वितीय गुणस्थान मे आता है तो उस जीव के उसी समय चौबीस प्रकृतियो का सत्त्व व प्रवेशस्थान* नष्ट होकर अट्ठाईस प्रकृतियो का सत्त्व व प्रवेशस्थान बन जाता है।[९६] अर्थात् जो अनन्तानुबन्धी का द्रव्य अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और सज्वलनरूप मे विद्यमान था वह परिणाम के माहात्म्य से तत्काल ही अनन्तानुबन्धी चतुष्करूप से परिणत हो जाता

---

९४ इस विसयोजना को करने वाला नियम से सम्यग्दृष्टि जीव होता है, क्योकि उनके बिना अन्य जीव के विसयोजना के योग्य परिणामों का होना असम्भव है। क पा सु ६७ पृ ६१ विशे।

९५ देखें—नं० ९१।

* प्रवेशस्थान से तात्पर्य-तत्कर्म का उदयावलि मे प्रवेश होने से है।

९६ अट्ठावीससतकम्मियवेदयसम्माइट्ठी अणताणुबंधिचउक्कं विसंजोइय चउवीस पवेसगो होदि तदो सव्वजहण्णतोमुहुत्तेण मिच्छत्तं गदो तस्स विदियसमए चउवीसपवेसट्ठाणं फिट्टिदूणट्ठावीसपवेसट्ठाणं जाद।
जयध १० पृ १३६।

है तथा उदय मे भी श्रा जाता है ।[97] इसका नाम है सयोजना । श्रर्थात् श्रतत्त्व श्रद्धान या सासादन परिणाम के कारण विसयोजित श्रनन्तानुवन्धी ही सयोजित होकर उदयगत हो जाती है ।[98]

संयोजना मे विशेष ध्यातव्य-मन्तव्य—

सयोजना की प्रक्रिया मे कुछ विशिष्ट समझने योग्य स्थल हैं—एक, परिणामो के माहात्म्य से शेष कषाय रूप द्रव्य का तत्क्षण श्रनन्तानुवन्धी रूप मे परिणत होकर उदय मे श्रा जाना । दूसरा, सत्ता मे भी शेष कषायो का श्रनन्तानुवन्धी रूप मे सक्रमण—सयोजन होना, श्रर्थात् श्रट्ठाईस का सत्त्व व प्रवेशस्थान वनना । तीसरा, श्रनन्तानुवन्धी के उदय से नये वन्ध की भी शुरुश्रात होना ।

उपर्युक्त विशेपताश्रो को ध्यान मे रखकर ही हमे श्रनन्तानुवन्धी की सयोजना श्रौर श्रनुदय पर विमर्श करना है । इस प्रसग मे यह वात तो निश्चित है कि यहाँ पर श्रनुदय का श्रर्थ उदय के सर्वथा श्रभाव रूप से ही विवक्षित हो–ऐसा नही है । फिर किस श्रर्थ मे श्रनुदय का प्रयोग किया गया होगा ? व्याकरण के श्रनुसार नञ् (निपेध) का प्रयोग ईपत् श्रर्थ मे भी होता है । जैसे—श्रनुदरा कन्या । यहाँ श्रनुदरा का श्राशय उदर रहित से नही वलिक कृश (ईषत्) उदर से लिया जाता है ।[99] इसी तरह यहाँ सम्भव है

९७ कथ पुव्वमसतस्माणताणुवधिकसायस्स तत्थुदयसभवो ? ण, परिणामपाहम्मेण सेसकसायदव्वस्स तक्कालमेव तदायारेण परिणमिय उदयदंमणादो । जयध १० पृ १२४ ।

९८ कुदो ? श्रणताणु चउक्क णिस्सत्तीकयसम्माइट्ठिणा मिच्छत्ते सासणसम्मत्ते वा पडिवण्णो तस्स पढमसमए चेव श्रणताणु चउक्कस्स ट्ठिदिसतुप्पत्तीदो । कुदो ? श्रसतस्स श्रणताणु चउक्कस्स उप्पत्ती ? ण, मिच्छत्तोदएण कम्मइयवग्गणक्खघाणमणताणु चउक्कसरूवेण परिणमण पडि विरोहाभावादो । जयध ४ पृ २४ ।

९९ श्रनुदरी कुमारीत्यत्र उदराभावत कुमार्य्या मरणप्रसगाच्च । ध ६ पृ ४४ ।

द्वारा अपने समय से पूर्व ही उदय मे ले आना।[103] तब ऐसी कौन-सी स्थिति होती होगी जब कि जीव मिथ्यात्व की तो उदीरणा कर रहा हो और अनन्तानुबन्धी का अनुदीरक हो ? तब समाधान दिया गया कि अनन्तानुबन्धी कषाय का सयोग अर्थात् पुन सयोजना होने पर सयोजना के प्रथम समय से लेकर एक आवली काल पर्यन्त नियम से उदीरणा होना सम्भव नही है।[104] और इसी बात को लेकर आचार्यो ने अनन्तानुबन्धी का अनुदय भी कहा हो, सम्भव है।

अनुदय के प्रसङ्ग मे एक और विचारणा है कि विसयोजना के समय अनन्तानुबन्धी न सत्ता मे, न उदयावलि मे और ना ही उदय मे है। तीनो स्थानो मे वह अप्रत्याख्यानावरणादिक के रूप मे है। लेकिन जैसे ही परिणामो के माहात्म्य से सयोजना हुई कि प्रथम समय से ही अनन्तानुबन्धी का उदय आरम्भ हो जाता है। अर्थात् उदयागत कषाय ही अनन्तानुबन्धी के रूप मे परिणत हो गयी और सत्ता मे भी चौबीस की जगह अट्ठाईस का सत्त्वस्थान हो गया। अब इस सत्तागत अनन्तानुबन्धी के निषेको को उदय समय तक प्राप्त होने मे एक आवली काल मे उदयावलि को पार करना होगा। क्योकि उदयावलि मे तो अभी भी अप्रत्याख्याना-वरणादिक कषाय का ही द्रव्य विद्यमान है। इसलिए हो सकता है, चूंकि सत्तागत अनन्तानुबन्धी एक आवली काल के उपरान्त ही उदय में आयेगी, इस अपेक्षा अनुदय कहा हो।

१०३ (अ) का उदीरणा णाम ? अपक्वपाचनमुदीरणा। ध ६ पृ २१४।
(ब) अणुभागा पयोगेण ओकड्डियूण उदये दिज्जति सा उदीरणा।
जयध ११ पृ. २

१०४ सजोजिदअणताणुबधीणमावलियामेत्तकालमुदीरणाभावादो।
ध १५ पृ. ७५।

इस सबसे स्पष्ट है कि आचार्यो ने बडी सूक्ष्मता के साथ चिन्तन किया और कहा है। उन्होने जहाँ एक ओर परिणाम के माहात्म्य से सयोजित अनन्तानुबन्धी का प्रथम समय से ही उदय स्वीकार किया और वहाँ उदयव्युच्छित्ति का स्थान न होने से उसका उदय भी अवश्यम्भावी है।[105] वही दूसरी ओर सयोजना के प्रथम समय से लेकर आवली काल तक अनन्तानुबन्धी का अनुदय भी स्वीकृत किया। ये दोनो बाते परस्पर विरुद्ध होते हुए भी विवक्षा भेद से समझने-सोचने पर अपनी-अपनी जगह सही—अविरुद्ध है। प्रस्तुत किये गये सन्दर्भो को देखते हुए आपको भी खूब विचार-विमर्श करके इस विपय मे समाधान की ओर गति करना चाहिए। कम से कम विद्वज्जनो से ऐसा तो आपेक्षित है ही।

उदयावलि मे अनन्तानुबन्धी की रिक्तता का हेतु—

यहाँ एक प्रश्न और उठता है कि सयोजना होने पर अनन्तानुबन्धी सत्ता और उदय मे तो रहती है लेकिन उदयावलि मे क्यो नही है ? इसे समझने के पहले हमे विसयोजना की सम्पूर्ण प्रक्रिया को ध्यान मे रखना होगा। जब कोई वेदक सम्यग्दृष्टि या उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करता है तो वह अट्ठाईस के सत्त्व से चौबीस प्रकृतिक सत्त्व वाला हो जाता है। क्योकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क का पर—प्रकृतिरूप विसयोजन यानि सक्रमण हो गया। यहाँ पर सक्रमण की होने वाली प्रक्रिया मात्र सत्तागत द्रव्य मे ही होती है, ना कि उदयावलि या उदय समय मे। अत उदयावलि के द्रव्य को एक आवलि काल तक उदय मे रहने वाली अप्रत्याख्यानावरणादिक कषायो रूप स्तिबुक सक्रमण के

---

१०५ पण्णरकसायभयदुगहस्सदु चउजाइपुरिसवेदाण।
समऐक्कत्तीसाण सेसिगिसीदाण पुव्व तु ॥ क का ४०१ पृ ६४९।

द्वारा उदय से एक समय पूर्व ही क्रमश. परिणत कराता हुआ उदयावलि को खाली कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि जैसे एक आवली तक उदयावली अनन्तानुबन्धी की विसयोजना होने पर भी रिक्त नही हुई। उसी प्रकार सयोजना के समय भी एक आवली तक अनन्तानु-बन्धी उदयावली को पार कर उदय मे नही आ पाती। कारण उदयावली मे स्थित द्रव्य मे मात्र स्तिवुक सक्रमण के अलावा सभी दसो करणो का अभाव पाया जाता है।

रिक्तता के हेतु मे उदाहरण--

संयोजना की इस प्रक्रिया को सहजता से समझने के लिए उसे एक उदाहरण के माध्यम से समझें। उदाहरण हमेशा एकदेश होता है, इस बात को ध्यान मे रखकर ही हम उसे समझें।

मान लो एक काँच की टकी है जिसमे पानी निकलने के लिये एक पाइप लगाया गया और पाइप के दूसरे सिरे पर एक टोटी लगी हुई हैं। सभी चीजे काँच की है। कारण, अन्दर होने वाली क्रिया-प्रक्रिया को बाहर से ही देखा जा सके। टकी को हम यहाँ सत्ता का प्रतीक निर्धारित करते है पाइप को उदयावली और टोटी, उदय की प्रतीकरूप हैं। टकी पाइप व टोटी तीनों मे सादा पानी भरा गया है अर्थात् जैसे अनन्तानुवन्धी की विसयोजना से निर्मलता आ गई हो। यानी उदय, उदयावली और सत्ता मे अनन्तानुवन्धी का अभाव है। अनन्तानुवन्धी को रङ्ग के रूप में लेगे। लेकिन अब सयोजना हुई तो अनन्तानुवन्धी की सत्ता हो गयी अर्थात् टकी के पानी मे रङ्ग घोल दिया गया। जिससे सत्ता टकी का सारा पानी रंगीन हो उठा। इसके साथ ही टोटी मे उसी रग से युक्त एक कपडा लगा दिया। जिससे टोटी से पानी निकलने

पर रग से युक्त होकर ही निकले। किन्तु अभी भी स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि पाइप का पानी रगहीन है। जब परिणामो के माहात्म्यस्वरूप टोटी मे लगे कपडे से पानी निकलना प्रारम्भ होता है तो वह रगयुक्त ही निकलता है। लेकिन अब जरा गौर से देखिये कि पाइप मे रहने वाले स्वच्छ पानी मे पीछे से टकी का रगीन पानी प्रवेश कर रहा है और ज्यो-ज्यो पाइप का पानी टोटी से रगीन हो निकलता जा रहा है त्यो-त्यो पाइप मे रगीन पानी अधिक होता जा रहा है, और अन्त मे सादा पानी समाप्त ही हो जाता है और सम्पूर्ण पाइप मे भी रगीन पानी आ जाता है। यही दशा सयोजना के उपरान्त एक आवली काल तक अनन्तानुवन्धी की होती है। जैसे रगीन पानी को टोटी तक आने मे पाइप मे भरे पानी के निकलने तक का काल लगा। वैसे ही सत्तागत द्रव्य को उदयसमय तक आने मे एक आवली काल आपेक्षित रहता है। जिसे ही सम्भवत अनुदय कहा गया हो। अनुदय कहने पर भी एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि परिणामो के माहात्म्य से अनन्तानुबन्धी उदय मे तत्काल ही आ जाती है।

संयोजना का अर्थ, नया बन्ध नही--

कुछ विद्वान् सयोजना का अर्थ अनन्तानुवन्धी के नये वन्ध से लेते हैं लेकिन ऐसा अर्थ ठीक नही है।[108] यदि सयोजना का अर्थ नवीन बन्ध करते हैं तो सिद्धान्त से विरोध आयेगा। पहली बात तो यह कि अनन्तानुवन्धी के अभाव मे यह नया बन्ध किसके

१०६ अणताणुवधीण जहण्णओ पदेसउदओ कस्स ? अभवसिद्धिय पाओग्ग-जहण्णमतकम्म कादूण सम्मत्त सजमासजम सजम च बहुसो लद्धूण चत्तारिवारे कसायउवसामेदूण पुणो विसजोइद सजुत्त कादूण वेछावट्ठीणो सम्मत्तमणुपालिय मिच्छत्त गदो, तस्स आवलियमिच्छाइट्ठिस्स अणताणुवधीण जहण्णओ पदेसउदओ।

द्वारा होगा ? यदि कहे कि मिथ्यात्व के द्वारा, तो भी गलत ही है क्योकि आगे कहा जाएगा कि मिथ्यात्व तो भावात्मक होता है, अत. उसके उदय से जीव मे अतत्त्वश्रद्धानरूप भाव का ही अनुभव होगा। वह बन्ध नही कराता। साथ ही अनन्तानुबन्धी के नये बन्ध के लिए अनन्तानुबन्धी का उदय भी होना आवश्यक है। जबकि अभी अनन्तानुबन्धी का उदय ही नही है तब बन्ध कैसे ? इसलिए सयोजना होना अलग है और अनन्तानुबन्धी का नया बन्ध होना अलग बात है। दोनो को एक मानना हमारी सिद्धान्त अज्ञता ही होगी। इसके लिए हमे धवला, जयधवला आदि विशिष्ट सिद्धान्त ग्रन्थो का अध्ययन करना चाहिए। जिनसे ज्ञात होगा कि आगम मे बन्ध के दो भे दो की चर्चा है—अकर्मबन्ध तथा कर्मबन्ध।[107] कार्मण वर्गणाओ के पुद्गल परमाणु जो अभी कर्मरूप से परिणत नही है उनके द्वारा होने वाला बन्ध अकर्मबन्ध कहलाता है।[108] तथा कर्मरूप मे पहले से स्थित पुद्गल परमाणुओ का अन्य प्रकृति रूप परिणमन करना कर्मबन्ध कहलाता है।[109] इस विवक्षा को

— अनन्तानुबन्धी कषायो का जघन्यप्रदेश उदय किसके होता है ? अभव्यसिद्धिक के योग्य जघन्य सत्कर्म को करके, सम्यक्त्व, सयमासयम और सयम को बहुत बार प्राप्त करके, चार बार कषायो को उपशमाकर फिर से भी विसयोजित सयुक्त करके (अनन्तानुबन्धी कषायो को बाँधकर) दो छयासठ सागरोपम तक सम्यक्त्व को पालकर जो मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ है उस आवलीकालवर्ती मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबधी कषायो का जघन्य प्रदेश उदय होता है। ध १५ पृ ३०४।

१०७ दुविहो बधो, अकम्मबधो कम्मबधो चेदि। जयध ८ पृ २।

१०८ तत्थाकम्मबधो णाम कम्मइयवग्गणादो अकम्मसरूवेणोवट्ठिदपदेसाण गहण। जयध ८ पृ २।

१०९ कम्मबधो णाम कम्मसरूवेणावट्ठिदपोग्गलाणमण्णपयडिसरूवेण परिणमण। जयध ८ पृ २।

ध्यान मे रखकर विचार किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि अनन्तानुबन्धी का नया बन्ध होना अकर्मबन्ध है, जो कि सयोजना रूप कर्मबन्ध से एकदम पृथक् है। इस तरह सयोजना को नये वन्ध के रूप मे ग्रहण करना आगम से इष्ट नही जान पडता।

विसंयोजना एव संक्रमण मे अन्तर--

जिस तरह अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध मे भेद है, उसी तरह विसयोजना 'और सक्रमण मे भी अन्तर है। दोनो को एक नही समझना चाहिए। एक प्रकृति का दूसरी सजाति प्रकृति रूप परिणमित होना सक्रमण है।[110] सक्रमित हुआ द्रव्य पुन सयोजित नही होता जबकि विसयोजना मे अनन्तानुबन्धी की विसयोजना होने के बाद भी वह अपने अध्वान–बन्ध-उदय काल मे पुन सयोजित हो जाती है।[111] इन्ही अर्थों मे विसयोजना और सक्रमण मे अन्तर है। यदि विसयोजना को सक्रमण ही मान लेते है तो सयोजना के अभाव का प्रसग आ जाएगा जबकि वह आगमामान्य है और इष्ट भी नही है।

इन दोनो के अन्तर को हम एक दृष्टान्त द्वारा समझ लेते है। आयुर्वेद शास्त्रो मे कई प्रकार की भस्मो की चर्चा है, जिनसे भिन्न-भिन्न रोगो की चिकित्सा का विधान किया गया है। जैसे—

११० (अ तत्थ पयडीए पयडिअतरेसु सकमो पयडिसकमोत्ति भण्णइ, जहा कोहपयडीए माणादिसु सकमोत्ति। जयध ८ पृ १४।

(ब) अवत्थादो अवत्थतरसकेती सकमो त्ति। जय ध ६ पृ ३।

१११ जो उपशमसम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी की विसयोजना करके पुन. उपशम सम्यक्त्व के काल में छह आवली शेष रहने पर सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है उसके अनन्तानुबन्धी का जघन्य अन्तरकाल अन्तर्मुहूर्त पाया जाता है। जयध २ पृ ११४ विशे।

लौह भस्म, रजत भस्म, स्वर्ण भस्म इत्यादि। आयुर्वेद के अनुसार तथा आप स्वय अनुभव के आधार पर जानते हैं कि इन भस्मो के तैयार हो जाने के बाद इन्हे पुन लौह, रजत और स्वर्णरूप नही किया जा सकता। लेकिन आपको ध्यान होगा कि उन ग्रन्थो मे एक विशेष भस्म का भी उल्लेख किया गया है जो ऐसी नही है, वह है पारे की भस्म। पारा जब शुद्ध अवस्था मे होता है तो वह सेवन योग्य नही होता। किन्तु वह जैसे ही भस्म का रूप धारण करता है कि सेवनीय हो जाता है। उसके सेवन से पूर्व वैद्य लोग सावधानीपूर्वक परामर्श देते हैं कि इस भस्म के साथ खटाई न खाई जाए। नही तो वह पुन पारे रूप परिवर्तित होकर जीवनघाती तक बन सकती है। इसकी पुष्टि के लिए जैनाचार्यों ने लिखा—इस जीव ने रसज्ञान के अभाव मे कई बार अकाल मृत्यु को प्राप्त किया है।[112] उपर्युक्त कहा गया रस यही पारा है।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि पारे की भस्म पुन. सयोजित हो जाने की वजह से विसयोजना की प्रतीक है और अन्य भस्मे जो पुन· परिवर्तित नही होती, अत. सक्रमण की प्रतीक है। △

अनन्तानुबन्धी चतुष्क का प्रशस्त उपशम भी नहीं होता—

आत्मा मे कर्म की निज शक्ति का किसी कारणवश प्रगट न होना उपशम है। जैसे कीचड मिले हुए जल मे फिटकरी आदि

---

११२ हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुहणपडणभंगेहिं।
रसविज्जजोयधारण अणयससगेहि विविहेहिं ॥
इय तिरियमणुसजम्मे सुइर उववज्जिऊण बहुवार।
अवमिच्चुमहादुक्ख तिव्व पत्तोसि त मित्त ॥ भावपाहुड २६-२७ पृ १४३।

△ इस प्रकरण मे जैसा विसयोजना और सक्रमण मे अन्तर बताया गया है वैसा ही विसयोजना एव क्षपणा मे अन्तर होता है। देखें जयध ५ पृ २०७ से २०८।

डाल देने से सारी कीचड पृथक् होकर नीचे बैठ जाती है।[113] उपशम दो प्रकार का होता है—प्रशस्त उपशम और अप्रशस्त उपशम। जो उपशम अपूर्वकरणादि परिणामो के माध्यम से उपशम विधि पूर्वक होता है वह प्रशस्त उपशम है अर्थात् जिससे कर्म, उदय-उदीरणा, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृति सक्रमण, स्थिति-काण्डकघात-अनुभागकाण्डकघात के बिना ही मात्र सत्ता मे रहते हैं उसे प्रशस्त उपशम कहते है।[114] और जिस उपशम मे मात्र अपकर्षण, उत्कर्षण, परप्रकृति सक्रमण व उदय अवस्था को प्राप्त न हो उसे अप्रशस्त उपशम कहते है।[115] इन उपशमो मे अनन्तानुबन्धी के प्रशस्त उपशम का अभाव है। इसका तो अप्रशस्त उपशम होता है या विसयोजना।[116] लेकिन किन्ही ग्रन्थो मे विसयोजना को 'उपशम' शब्द द्वारा भी इगित किया गया है। वहा उपशम मे विसयोजना ही ग्रहण करना चाहिए।[117]

अप्रशस्त उपशम से विसयोजना मे विशिष्टता यह है कि विसयोजना करने वाले जीव के सत्ता, उदयावली और उदय, तीनो

---

११३ आत्मनि कर्मण स्वशक्ते कारणवशादनुद्भूतिरुपशम.। यथा कतकादि-द्रव्यसवन्धादम्भसि पकस्य उपशम। स सि २/६ पृ १०७।

११४ उवसमो णाम किम् ? उदय-उदीरण-ओकड्डुक्कड्डुण-परपयडिसकम-ट्ठिदि-अणुभाग-कडयघादेहि विणा अच्छणमुवसमो। ध १ पृ २१२।

११५ अप्पसत्थुवसामणाए जमुवसत पदेसग्ग तमोकड्डिदु पि सक्क, उक्कड्डिदु पि सक्क, पयडीए सकामिदु पि सक्क उदयावलिय पवेसिदु ण उ सक्क। ध १५ पृ २७६।

११६ अनन्तानुवन्धिकषायाणा प्रशस्तोपशमो नास्ति इति तेषामप्रशस्तोपशमे विसयोजने वा जायते। जी का २५ पृ ५३।

११७ अनन्तानुबन्धी के अन्य प्रकृतिरूप मे सक्रमण होने को ग्रन्थान्तरो मे विसयोजना कहा है, और यहाँ पर उसे उपशम कहा है। ध १ पृ २११।

ही अनन्तानुवन्धी से रिक्त होते हैं। इस समय ऐसा जीव चौवीस प्रकृतियो के सत्व वाला माना जाता है। लेकिन अप्रशस्त उपशम मे मात्र अनन्तानुवन्धी के चतुष्क का उदयाभाव होता है। उस समय सत्ता और उदयावली दोनो मे इसका अस्तित्व मौजूद रहता है। इसीलिए प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा विसयोजना करने वाला जीव अधिक विशुद्धि वाला होने से असख्यातगुणी निर्जरा करने वाला होता है।[118] साथ ही अनन्तानुवन्धी की विसयोजना के विना दर्शनमोहनीय की क्षपणा[119] तथा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व भी प्राप्त नही होता।[120]

अनन्तानुवन्धी मिथ्यात्व की जननी—

अनन्तानुवन्धी और मिथ्यात्व मे क्या सम्वन्ध है, इसकी ओर दृष्टिपात् करें। एक, मिथ्यात्व जीव को सिर्फ सम्यक्त्व होने के लिए वाधक है अर्थात् श्रद्धान नही होने देता।[121] लेकिन

११८ (अ) सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशान्तमोहक्षपकक्षीण-मोहजिना क्रमशोऽसन्ख्येयगुणनिर्जरा। त सू ९/४५।

(ब) सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय विरदे अणत कम्मसे।
दसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसते॥
खवए य क्षीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो सखेज्जगुणा य सेढीओ॥ ध १२ पृ. ७८ एव जी का पृ १२९।

११९ (अ) एत्थ जो वेदगसम्माइट्ठी दसणमोहक्खवणं पट्ठवेइ सो पुव्व चेवाणता-णुवधिचउक्क विसंजोएइ, अविसजोइदाणताणुवधिचउक्कस्स दसणमोह-क्खवणपट्ठवणाणुववत्तीदो। जयध. १३ पृ १२।

(ब) तदो अणताणुवधी विसजोइय, पिस्सतो दसणमोह खविय। ध ५ पृ १३५।

१२० वेदयसम्माइट्ठी अणताणुवधी अविसजोएदूण कसाए उवसामेदु णो उवट्ठादि। जयध १३ पृ १६७।

१२१ अत्तागम-पयत्थेसु पच्चओ रुई सद्धा पासो च दसण णाम। तस्स मोहय तत्तो विवरीयभावजणण दसणमोहणीय णाम। ध १३ पृ ३५७।

अनन्तानुबन्धी कषाय इससे एक कदम आगे है। वह संयम को घात करने के साथ सम्यक्त्व को भी चुराती है—घात करती है पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है कि—

"सम्यग्दर्शनचौरा प्रथमकषायाश्च चत्वार ॥"[122]

अर्थात् प्रथमकषाय—अनन्तानुबन्धी वह है जो सम्यग्दर्शन-रूपी रत्न को चुराती है। अनन्तानुबन्धी की द्विमुखता भी बड़ी विचित्र है।[123] हम हमेशा इसके लिए एक उदाहरण दिया करते हैं—

जैसे वर्तमान में भारत देश में राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के दो अलग-अलग पद हैं फिर भी दोनों का अच्छा गठबन्धन होता है। इसी तरह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का सम्बन्ध हुआ करता है। फिर भी दोनों की सत्ता अलग-अलग है। मिथ्यात्व तो राष्ट्रपति के समान सबसे बड़ा कर्म है। लेकिन अनन्तानुबन्धी प्रधानमंत्री होकर भी कम नहीं है। पूरा शासन तो अपने ही हाथों में रखती है। पहले प्रधानमंत्री चुनकर आता है। फिर उसी के माध्यम पूर्वक राष्ट्रपति का चुनाव होता है।

किंच, जो व्यक्ति जितना बड़ा होता है वह उतना ही कम कार्य करता है। उसकी मात्र उपस्थिति ही मूल्यवान् होती है। उसे हस्ताक्षर ही अधिकांश करना होते हैं। लेकिन उसका वेतन सबसे अधिक होता है। इस तरह का स्वरूप है मिथ्यात्व का।

---

१२२ तत्त्वार्थश्रद्धाने निर्युक्ते प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौरा: प्रथमकषायाश्च चत्वार: । पु सि १२८ पृ ६७।

१२३ अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात्। यस्मान्च विपरीताभिनिवेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्रावरणत्वात्। तस्योभयप्रतिबन्धकत्वादुभयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात्। ध १ पृ १६४।

किन्तु अनन्तानुवन्धी सारा कार्य करती है। व्यवस्था करती है और मिथ्यात्व से कम वेतन–स्थिति बन्ध को प्राप्त करती है। यही इसकी उदारता होती है।

एक वात और है कि जैसे प्रधानमत्री को राष्ट्रपति के आने पर स्वागत को पहले से ही तैयार होना पडता है। उसी प्रकार मिथ्यात्व के आगमन–वन्ध के समय तथा चतुर्थ गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान को आते समय, उसका सारा प्रवध करने अनन्तानुवन्धी तैयार रहती है। अनन्तानुवन्धी ही मिथ्यात्व को सुरक्षित एव सवर्धित करने मे हर दम प्रयासरत रहती है। ताकि शासन मजवूत वना रहे। इस तरह परस्पर मे सम्वन्ध रहता है दोनो का।

अनन्तानुवन्धीजन्य विपरीताभिनिवेश का फल–

विपरीताभिनिवेश की अपेक्षा देखा जाए तो मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी मे कथञ्चित् साम्यता भी है।[124] इसीलिए मैं कहा करता हूँ कि क्या अनन्तानुवन्धीकपाय मिथ्यात्व नही है ? कारण विपरीताभिनिवेश, मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी, इन दोनो के द्वारा ही उत्पन्न होता है। कारण, सासादन गुणस्थान मे तीन अज्ञान की वात कही गयी है–मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभङ्गज्ञान।[125] इससे स्पष्ट है कि जव सासादन गुणस्थान मे

१२४ तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वय नास्य मासादनव्यपदेश इति चेन्न, सम्यग्दर्शन-चारित्राप्रतिवन्ध्यनन्तानुवन्ध्युदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र सत्त्वाद्भवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मादयजनितविपरीताभिनि-वेशाभावात् न तस्य मिथ्यादृष्टिव्यपदेश' किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते। ध १ पृ. १६४।

१२५ (अ) णाणाणुवादेण मदिअण्णाणि-सुदअण्णाणि-विभगणाणीसु मिच्छादिट्ठी-सासणसम्माइट्ठी ओघ। ध ५ पृ २२४।

(व) मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभगज्ञानेपु मिथ्यादृष्टिसासादनसज्ञके द्वे। मूला १२०२ पृ ३२५।

मिथ्यादर्शन का उदय नही है तो वहा ज्ञान को मिथ्याज्ञान की सज्ञा दिलाने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय ही है।[126] इसीलिए वहा पर अज्ञान–मिथ्याज्ञान कहा गया है।

सासादन–आसादन से युक्त। यानि सम्यक्त्व की विराधना को आसादन और उससे सहित परिणाम सासादन है। इसका यह अर्थ हुआ। अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया, किन्तु मिथ्यात्व रूप परिणामो को अभी प्राप्त नही किया। अभी मिथ्यात्व के सम्मुख अवश्य है।[127] मिथ्यात्व की समानता का स्थान अनन्तानुबन्धी को तब भी दिया गया जब कि आस्रवो के नोकर्मो की प्ररूपणा की जा रही थी। वहा पर कहा गया कि जो-जो मिथ्यात्वप्रकृति के आस्रव के लिए नोकर्म हैं वे ही अनन्तानुबन्धी कषाय के लिए भी जानने चाहिए। जैसे–षड् अनायतनादि।[128] अर्थात् छह अनायतनो के द्वारा मिथ्यात्व भी आता है और अनन्तानुबन्धी भी। इसके साथ ही एक जगह तो अनन्तानुबन्धी को मिथ्यात्व के बराबर ही मोह कहकर समानता दी और विपरीताभिनिवेशजनक बतलाया है। कारण, उन्होने

१२६ (अ) तस्य मिथ्यादर्शनोदयाभावेऽपि अनन्तानुबन्ध्युदयात् त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानान्येव भवन्ति। रा वा ६/१ पृ ५८६।

(ब) सासादनसम्यग्दृष्टे मिथ्यादर्शनानुदयेऽपि अनन्तानुन्ध्यन्यतमोदयान् यत् ज्ञानत्रय तदज्ञानत्रयमेव। त वृ ६/१ पृ २८१।

१२७ (अ) सासादनो विनाशित सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुख सासादन इति भण्यते। घ १ पृ १६३।

(ब) सम्मत्तरयण-पव्वय सिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो।
णासिय-सम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ घ १ पृ १६६ एव
जी का २० पृ ५१'

१२८ अणणोकम्म मिच्छत्तायदणादी दु होदि सेसाण।
सगसगजोग्ग सत्थं सहायपहुडी हवे णियमा॥ क का ७५ पृ ५६।

कर्मोदय की समानता को स्वीकार किया है।[129] इस तरह से देखा जाए तो अनन्तानुबन्धी, सम्यक्त्व का घात करने मे मिथ्यात्व प्रकृति-वत् कार्य करती है।

स्व-परोदय की परिभाषा एवं बन्ध के समय उनकी भूमिका—

स्वोदय और परोदय वन्धी प्रकृतियो के प्रसग मे यहां खास तौर से मिथ्यात्व और अनन्तानुवन्धी इन दो प्रकृतियो के ही बारे मे विचार करेंगे। यहाँ कुछ लोगो का कहना है कि महाराज ! मिथ्यात्व प्रकृति तो स्वोदय वन्धी प्रकृति है इसलिए मिथ्यात्व के उदय मे मिथ्यात्व के द्वारा मिथ्यात्व प्रकृति का वन्ध मान लिया जाए, तो इसमे क्या बाधा है ? साथ ही अनन्तानुवन्धी को स्वोदयी तथा परोदयी दोनो रूप कहा गया है तो उसका भी वन्ध मिथ्यात्व के उदय मे तथा मिथ्यात्व के द्वारा ही स्वीकार कर लेना चाहिए ?

भैय्या ! इस तरह शकाओ को रखने से पहले आगम का अच्छी तरह से स्वाध्याय कर लेना चाहिए, जिससे उसमे दिये गये समाधानो से अपनी शकाओ के निवारण कर ले या फिर इस तरह की अज्ञतापूर्ण शकाओ को पैदा होने का अवसर ही न मिलें। ऐसी शकाओ से ज्ञात होता है कि अभी तक स्वोदय तथा परोदयवन्ध की परिभाषा क्या है यही ज्ञात नही है। अत उसे ही सबसे पहले समझ ले।

जिस प्रकृति का वन्ध, अपने उदयकाल से ही सम्भव होता है उसे स्वोदयवन्धी प्रकृति कहते हैं। तथा जिन प्रकृतियो का वन्ध अपना उदय न होते हुए भी—अन्यप्रकृति के उदय मे हो, वे परोदय

१२६ पचविहमिच्छत्त सम्मामिच्छत्त सासणसम्मत्त च मोहो, सो विवागपच्चइयो, मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-अणताणुवधीण दव्वकम्मोदयजणिदत्तादो। ध १४ पृ ११।

बन्धी प्रकृतियाँ कहलाती हैं। उभयबन्धी प्रकृतियाँ अपने तथा दूसरी अन्य प्रकृतियों के उदय से भी बन्धदशा को प्राप्त होने वाली होती हैं।

यहाँ मिथ्यात्व को स्वोदयबन्धी मानने का अर्थ है कि मिथ्यात्व के उदय मे ही मिथ्यात्व का बन्ध होगा।[130] ना कि वह मिथ्यात्व के द्वारा होगा। मिथ्यात्व के उदय मे जहाँ प्रथमगुणस्थान मे सोलह प्रकृतियो का अन्वय-व्यतिरेक कहा है वहाँ पर भी आशय सिर्फ इतना ही है कि मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के उदय मे ही बंधेगी। इसके साथ इतना अवश्य ही ध्यान रखने योग्य है कि मिथ्यात्व प्रकृति के उदयकाल मे यदि देव आयु का बन्ध हो रहा है तो मिथ्यात्व के अलावा अन्य पन्द्रह प्रकृतियो के बन्ध का अभाव हो जायेगा। इससे यह नियम भी नही बनता कि मिथ्यात्व के उदय से नियमत इन प्रकृतियो का बन्ध हो ही।

धवलादि ग्रन्थो मे आहारकद्विक अर्थात् आहारक शरीर एवं आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग इन दो प्रकृतियो के बन्ध के लिए संयम को नियामक बताया गया है।[131] इसी तरह तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध के लिए सम्यक्त्व प्रत्यय माना है।[132] पर यहाँ ध्यान

---

१३० मिच्छत्तस्स सोदएणेव बंधो। ध ८ पृ ४४।

१३१. (अ) आहारदुगं विसिट्ठरागजणिदसंजमपच्चइय, तेण विणा तब्बधाणु-
वलसादो। ध ८ पृ ७३।

(ब) सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्ध।
योऽप्युपदिष्ट समये न नयविदा सोऽपि दोषाय॥ पु सि २१७ पृ १८०।

१३२ सम्मत्तगुणणिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं।
बज्झंति सेसियाओ मिच्छत्ताईहिं हेऊहिं॥ प्रा प स ४८६ पृ २७८।

रखना कि सयम श्रौर सम्यक्त्व बन्ध का कारण नही है।[133] यहाँ पर अभिप्राय इतना ही है कि आहारद्विक का बन्ध सयमी[134] तथा तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वी के होगा।[135] इसी तरह मिथ्यादृष्टि ही मिथ्यात्वप्रकृति का बन्धक होगा।[136]

दूसरी, अनन्तानुबन्धी स्वोदय-परोदय बन्धी प्रकृति है।[137] इसके साथ ही अप्रत्याख्यानावरण,[138] प्रत्याख्यानावरण,[139]

---

१३३ (अ) जदि चदुसजलण-णवणोकसाय-जोगा बावीस चेव आहारदुगस्स पच्चया तो सव्वेसु अप्पमत्तापुव्वकरणेसु आहारदुगबवेण होदव्व। ण चेव, तहाणुवलभादो। ध ८ पृ ७२।

(ब) ण सम्मत्त तब्बधकारण सम्मादिट्ठिस्स वि तित्थयरस्स बधाणुवलभादो। ध ८ पृ पृ ७७।

(स) सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकाराहारवन्धकौ भवत। योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्। पु सि २१८ पृ १८८।

१३४ आहारसरीर-आहारसरीरअगोवगणामाण को बधो को अबधो? अप्पमत्तसजदा अपुव्वकरणपइट्ठउवसमा खवा बधा। अपुव्वकरणद्धाए सखेज्जे भागे गतूण बधो वोच्छिज्जदि। एदे बधा अवसेसा अबधा। ध ८ पृ ७१।

१३५ तित्थयरणामस्स को बधो को अबधो? असजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव अपुव्वकरणपइट्ठउवसमा खया बधा। अपुव्वकरणद्धाए सखेज्जे भागे गतूण बंधो वोच्छिज्जदि। एदे बधा अवसेसा अबधा। ध ८ पृ ७३।

१३६. मिच्छत्तस्स बधोदया सम वोच्छिज्जति, मिच्छाइट्ठिचरमसमये बधोदय-वोच्छेददसणादो। ध ८ पृ ४३।

१३७ थीणगिद्धितियमित्थिवेद तिरिक्खाउअ तिरिक्खगइ चदुसठाणाणि चदुसघडणाणि तिरिक्खगदि पाओग्गाणुपुव्वि उज्जोव अप्पसत्थविहाय-गदिमणताणुवधिचउक्क दुभग-दुस्सर-अणादेज्ज णीचागोदाणि च मिच्छाइट्ठी-सासणसम्माइट्ठिणो सोदएण वि परोदएण वि वधति, विरोहा-भावादो। ध ८ पृ ३२।

१३८. अपक्खाणावरणचउक्कादीणं सव्वेसिं सोदय-परोदएहिं वधो। ध ८पृ ४७।

१३९ कोधादीण वधकाले तस्सेव उदए वि होदव्वमिदि णियमाभावादो। ध ८ पृ ५०।

और संज्वलन[140] भी स्व-परोदय बन्धी ही है। अगर परोदयबन्धी कहकर कोई मिथ्यात्व के द्वारा अनन्तानुबन्धी का बन्ध मानने लगे तो उसकी नासमझी ही होगी, कारण ऐसा मानने पर अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी २५ प्रकृतियों का भी बन्ध मिथ्यात्व के द्वारा मानना होगा। हम पूछना चाहेंगे कि यदि परोदयबन्धी का यही तात्पर्य लिया जाए तो क्या कभी ऐसी भी स्थिति होगी कि सभी कषायों का अनुदय हो और मिथ्यात्व का या अन्य तत्सम्बन्धी प्रकृति का उदय, कषायों के बन्ध कराने में निमित्त बने। लेकिन बन्धुओ! ऐसी स्थिति होती नहीं है कि मिथ्यात्व का उदय रहे और निष्कषाय अवस्था प्राप्त हो जाए। मिथ्यात्व के उदय के साथ अनन्तानुबन्धी का उदय तो हमेशा रहता ही है। उसके साथ अन्य कषायें भी विद्यमान रहती हैं।

यहाँ अनन्तानुबन्धी के परोदयबन्धी होने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि अनन्तानुबन्धी क्रोध के उदय से अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों का ही बन्ध होता है।[141] यहाँ अनन्तानुबन्धी क्रोध का तो बन्ध स्वोदयी बन्ध हुआ तथा अन्य तीन का परोदयी बन्ध हुआ। इसलिए वह स्व-परोदयबन्धी प्रकृति है। अनन्तानुबन्धी क्रोध के उदय के साथ शेष अन्य अप्रत्याख्यानावरणादि बारह प्रकृतियों के बन्ध होने का निमित्त

---

१४०. (अ) पुरिसवेद-कोधसंजलणाणं एदाणि दोण्णं पयडीणं सोदय-परोदएहि बंधो, सोदएण विणा वि बंधोवलंभादो। ध. ८ पृ ५३।
(ब) माण-मायसंजलणाणं एदाणि सोदय-परोदएहि बंधो। ध. ८ पृ ५३।
(स) लोभसंजलणाए सोदय-परोदएहि बंधो। ८ पृ. ५६।
(द) तैजसद्विक । शेषाः पञ्चदर्शनावरणद्विवेदनीयपंचविंशति-मोहनीयतिर्यग्मनुष्यायुस्तिर्यग्मनुष्यगति ···द्व्यशीतिप्रकृतयः उभयोदयबंधा भवंति। क. का ४०३ पृ ५५०।

१४१ देखें नं. १३६।

होना परोदयबन्धी का तात्पर्य नही । इसलिए अनन्तानुबन्धी का वन्ध उसके उदय के साथ ही हो सकेगा ।

नयो की विविक्षा मे सामान्य व विशेष प्रत्यय—

इस प्रकरण के अन्तर्गत वधस्वामित्वविचय वन्धप्रत्यय-विधान की चर्चा की जाएगी । पहले मे अर्थात् वधस्वामित्वविचय के अन्तर्गत वन्ध का स्वामी कौन या वन्ध करने वाला जीव कौन इस वात की प्ररूपणा की गई है ।[142] यहाँ विचय का अर्थ विचारणा या मीमासा है ।[143] ·समझाने के लिए जैसे–एक सौ अडतालीस कर्मप्रकृतियाँ हैं । उनमे वन्ध योग्य एक सौ वीस है ।[144] उन एक सौ वीस मे से भी प्रथम गुणस्थान मे स्थित जीवो के अधिक से अधिक एक सौ सत्तरह का ही वन्ध हो सकता है ।[145] कारण, प्रथमगुणस्थान मे तीर्थंकर प्रकृति एव आहारकद्विक, ऐसी तीन प्रकृतियो के वन्ध का निषेध किया गया है ।[146] इस प्रकार से वन्ध की चर्चा सभी गुणस्थानो मे की गई है ।

उपर्युक्त कथन नाना जीवो की अपेक्षा से किया गया है। इसलिए सामान्य कथन है । हालाकि एक समय मे एक जीव सभी प्रकृतियो का वन्ध नही कर सकता । पर सामान्य विवेचन करेंगे तो

---

१४२ एदस्स वधस्स सामित्त वधमामित्त, तस्स विचओ । ध ८ पृ ३ ।

१४३ विचओ, विचारणा, मीमासा परिक्खा इदि एयट्ठ । ध ८ पृ ३ ।

१४४ भेदे छादालसय इदरे वधे हवति वीससय ।
भेदे सव्वे उदये वावीससय अभेदम्मि ॥ क का. ३७ पृ ३५ ।

१४५ अभेदविवक्षया वन्धो विंशत्यग्रशतम् । तत्र मिथ्यादृष्टौ सप्तदशोत्तर शतमेव । क का १०३ पृ ७६ ।

१४६ 'सम्मेव तित्थवधो आहारदुग पमादरहिदेसु' इति तत्त्रयस्य वधाभावात् । क का १०३ पृ. ७६ ।

ऐसा ही कहा जाएगा कि प्रथम गुणस्थान में बंधने वाली एक सौ सत्तरह प्रकृतियाँ हैं। अब यदि कोई कहे कि एक जीव की अपेक्षा एक सौ सत्तरह प्रकृतियों का बन्ध क्या प्रथम गुणस्थान में सम्भव है? हाँ! नैगमनय की अपेक्षा से कहें तो एक जीव भिन्न-भिन्न काल में सभी प्रकृतियाँ बन्ध सकता है। यह कथन नैगमनय के दोनों भेद-भावि-नैगमनय तथा भूतनैगमनय की अपेक्षा से किया गया है। लेकिन यदि वर्तमान की अपेक्षा या एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि की अपेक्षा या देव-नारकी की अपेक्षा या सञ्ज्ञी-असञ्ज्ञी की अपेक्षा विचार करने पर प्रथम गुणस्थान में ही बंधने वाली प्रकृतियों के कई भेद-उपभेद हो जायेंगे। यह कथन विशेष कथन है।

इस तरह बन्धस्वामित्वविचय की प्ररूपणा सामान्य-विशेष दोनों विवक्षाओं से की जाती है। इसमें यह भी विचार किया जाता है कि किन-किन प्रकृतियों का कौन-बन्धक है? कौन अबन्धक है? किस गुणस्थान से लेकर किस गुणस्थान तक—अध्वान की अपेक्षा बन्ध होता है?[१६७]

जैसे—यश:कीर्ति का बन्ध कौन करता है? मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि, दोनों ही उसके बन्धक हैं। यहाँ विशेष कथन से यह जाना जाता है कि क्या अकेले प्रथम व चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ही बन्धक हैं या और भी? तब ज्ञात होगा कि यश:कीर्ति का बन्ध प्रथम से दसवें गुणस्थान तक होता है। अत: उसके स्वामी प्रथम से लेकर दसवें गुणस्थान—सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसों गुणस्थान

१६७ को बंधो को अबंधो त्ति णिद्देसादो एद पुच्छासुत्तमाढत्तमिदि वा। किं मिच्छाइट्ठी बंधओ किं सासणसम्माइट्ठी किं सम्मामिच्छाइट्ठी किं असंजदसम्माइट्ठी एवं णेदूण किं अजोगी किं सिद्धो बंधओ त्ति तेणेव पुच्छा कायव्वा। ध. ८ पृ. ७।

वाले होगे ।[148] इस प्रकार से सामान्य और विशेष की प्ररूपणा प्रत्येक प्रकृतियो के विषय मे की जाती है ।

दूसरे प्रकरण—बन्धप्रत्ययविधान मे सामान्य और विशेष की विवक्षापूर्वक बन्ध प्रत्ययो की प्ररूपणा की जाती है । यहाँ प्रत्यय का अर्थ कारण, साधन या निमित्त जाना चाहिए । ये सभी समानार्थक शब्द है ।[149] किन कारणो से अर्थात् किन सामान्य और विशेष प्रत्ययो से जीव किस कर्म को बांधता है, यह सारी जानकारी बन्धप्रत्यय विधान की जाती है ।

सामान्य प्रत्यय वे कहे जाते हैं जो कि बन्ध के समय उदय-अस्तित्व मे आपेक्षित होते है । इन सामान्य प्रत्ययो के अन्दर मिथ्यात्वादि कई प्रत्यय रखे गये है। उसका वर्णन नैगम, सग्रह और व्यवहारनय से किया जाता है ।

जैसे—मिथ्यात्व के उदय मे अयश कीर्ति का बन्ध होता है। और लेकिन यह बन्ध मात्र मिथ्यात्व के उदय मे नही होता। कारण, मिथ्यात्व का उदय तो मात्र प्रथम गुणस्थान मे है जबकि अयश कीर्ति का बन्ध तो छठवे गुणस्थान तक रहता है ।[150] अत

---

१४८ पंचण्ण णाणावरणीयाण चदुण्ह दसणावरणीयाण-जसकित्ति—उच्चागोद-पचण्हमतराइयाण को वधो को अवधो ?
मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सुहुमसापराइयसुद्धिसजदेसु उवसमा खवा बधा। सुहुमसापराइयसजदद्धाए चरिमसमय गतूण वधो वोच्छिज्जदि । एदे वधा अवसेसा अवधा । ध ८ पृ १३ ।

१४९ (अ) प्रत्यय कारण निमित्तमित्यनर्थान्तिरम् । स. सि १/२१ पृ ८९ ।
(ब) पच्चओ कारण णिमित्तमिच्चणत्थतरं । ध. १२ पृ. २७६ ।

१५० असादावेदणीय-अरदि-सोग-अथिर-असुह-अजसकित्तिणामाण को वधो को अवधो ?
मिच्छादिट्ठिप्पहुडि जाव पमत्तसंजदा बंधा । एदे वधा, अवसेसा अवधा । ध. ८ पृ ४० ।

मिथ्यात्व का उदय अयशकीर्ति के बन्ध के लिए नियामक कारण नही हुआ अपितु सामान्य कारण ही हुआ। अयश कीर्ति और अन्य पाँच–अस्थिर, अशुभ, असाता, अरति और शोक, इन छह प्रकृतियो की बन्धव्युच्छित्ति छठवे गुणस्थान मे होने से इनके लिए नियामक प्रत्यय के रूप मे प्रमाद कहा गया है।[151] अर्थात् प्रमाद के साथ ही इनका बन्ध होता है। अप्रमत्तजीव को इनका बन्ध नही होता। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य होता है कि इन छह प्रकृतियो का बन्ध प्रमाद होने से होगा ही, ऐसा कोई नियम नही। क्योकि प्रमाद के साथ-सद्भाव मे इन प्रकृतियो के बन्ध का अभाव तथा इनकी प्रतिपक्षी यश कीर्ति, स्थिर, शुभ, साता, रति और हास्य का बन्ध भी देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह सभी सामान्य प्रत्यय ही है।

इस विषय को ऐसे भी समझा जा सकता है।'–ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बन्ध करने वाला प्राणातिपात प्रत्यय भी कहा गया है।[152] और वहाँ प्राणातिपात का अर्थ सीधा प्राणो का व्यपरोपण ही लिया गया है।[153] इसी तरह आगे मृषावाद प्रत्यय,[154] अदत्तादान प्रत्यय,[155] मैथुन[156] और परिग्रहप्रत्ययो[157] को भी

---

१५१ प्रमत्तसयतगुणस्थानचरमसमये अस्थिर अशुभ असातवेदनीय अयशस्कीर्ति शोकश्चेति षट्व्युच्छियन्ते प्रमादहेतुकवधत्वात्। क का ६८ पृ ७१।

१५२ तम्हि पाणादिवादपच्चए णाणावरणीयवेयणा होदि। जहा णाणावरणीयस्स पच्चयपरूवणा कदा तहा सेससत्तण्ण कम्माण पच्चयपरूवणा कायव्वा विसेसाभावादो। ध १२ पृ २७६।

१५३ पाणादिवादो णाम पाणेहिंतो पाणीण विजोगो। ध १२ पृ २७५।

१५४ मुसावादपच्चए। ध १२ पृ २७६।

१५५ अदत्तादाणपच्चए। ध १२ पृ २८१।

१५६ मेहुणपच्चए। ध १२ पृ २८२।

१५७ परिग्गहपच्चए। ध १२ पृ २८२।

ग्रहण किया गया है। इसी सन्दर्भ में रात्रिभोजन भी एक प्रत्यय के रूप मे रखा गया है।[158] अब अगर देखा जाए तो जो महाव्रती-मुनि महाराज है, उनका तो इन सभी क्रियाओ का मन, वचन, काय से–अतरग-बहिरङ्ग रूप से सर्वथा परित्याग है। फिर उनको तो आठो कर्मों का बन्ध नही होगा। इसीलिए प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन आदि इन प्रत्ययो से ज्ञानावरणीयादि कर्मो का बन्ध नही होता। क्योकि इनके बिना भी अप्रमतसयतादि गुणस्थानवर्ती जीवो के भी इनका बन्ध होता है।[159] तब यहाँ समाधान दिया गया है कि वह प्रत्ययव्यवस्था तो नैगम, सग्रह और व्यवहार नयो की अपेक्षा की गयी है।[160] अत ये सभी सामान्यप्रत्यय माने जाते है। उन्होने कहा–ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रत्ययो का सुखपूर्वक ज्ञान कराने के लिए इन सामान्य प्रत्यय को विवक्षित किया गया है।[161] सामान्यप्रत्ययो मे और भी कई नाम है जैसे–मधु-मास-पचुदम्बरफल-निवसन-मद्य-क्रोध-मान-माया-लोभ-राग-दोष-मोह-प्रेम-उवधि-निकृति, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति आदि।[162] इन सभी को द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा बन्ध का हेतु जानना चाहिए।

---

१५८ रादिभोयणपच्चए। ध १२ पृ २८२।

१५९ ण पाणादिवाद - मुमावादादत्तादाणमेहुण-परिग्गह-रादिभोयणपच्चए-ण।णावरणीय वज्झदि, तेण विणा वि अप्पमत्तसजदादिसु वधुवलभादो। ण कोहमाण लोभेहि वज्झइ, कम्मोदइल्लाण तेसिमुदयवि रहिदद्धाए तव्वधुवलभादो। ध १२ पृ २८०।

१६० णेगम-ववहार-सगहाण णाणावरणीयवेयणा पाणादिवादपच्चए। ध १२ पृ २७५।

१६१ एव विहववहारो किमट्ठ कीरदे ? मुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिवोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहणट्ठ च। ध १२ पृ २८०।

१६२ (अ) जेणेद सुत्तं देसामासिय तेणेत्थ महु-माम-पचुवर-णिवसण-हुलभवखण-सुरापाण-अवेलासणादीण पि णाणावरणपच्चयत्त परूवेदव्व। ध १२ पृ २८३।

यंत इन प्रत्ययो के अभाव मे भी बन्ध होता रहता है इसलिए इन्हे सामान्यप्रत्यय के रूप मे रखा गया है।

विशेप प्रत्यय की चर्चा करते हुए ऋजुसूत्रनय के आश्रित इनसे अलग ही प्रत्यय कहे गये है, कारण कि वे साक्षात् बन्ध की नियामकता से सम्बन्ध रखते है। ऋजुसूत्रनय की विवक्षा मे दो ही प्रत्यय कहे गये है—कषाय और योग।[163] योग को प्रकृति और प्रदेश बन्ध का तथा कषाय को स्थिति और अनुभाग बन्ध का नियामक प्रत्यय कहा गया है।[164]

यहाँ सामान्य और विशेष प्रत्ययो से इतना ही ज्ञातव्य है कि सामान्यप्रत्यय के होने पर बन्धरूप कार्य हो ही, ऐसा नही। किन्तु विशेषप्रत्यय के सद्भाव मे कार्य की निष्पत्ति अवश्यम्भावी होती है। जैसे—घडा नही बनाते हुए कुम्भकार को भी कुम्भकार की सज्ञा से व्यवहित किया जाता है। उसी प्रकार प्राणातिपातादि प्रत्ययो के द्वारा लोकसव्यवहार की प्रवृत्ति प्रचलित होती है इसलिए ही इनका कथन किया गया है।[165]

(ब) एव कोह-माण-माया-लोह-राग-दोस-मोह-पेम्मपच्चए। णिदाणपच्चए। अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छा-णाण-मिच्छादसण-पओअपच्चए। ध १२ पृ २८३–२८५।

१६३ (अ) उज्जुसुदस्स णाणावरणीयवेयणा जोगपच्चए पयडिपदेसग्ग। कसाय-पच्चए ट्ठिदि-अणुभागवेयणा। ध १२ पृ २८८ व २९०।

(ब) तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोगकसाएदि चेव होदि त्ति सिद्ध। ध १२ पृ २८०।

१६४ जोगा पयडि-पदेसे-ट्ठिदि अणुभागे कसायदो कुणदि। ध १२ पृ २८९।

१६५ जदि एव तो दव्वट्ठियणएसु पुव्विलेसु तीसु वि पाणादिवादादीण पच्चयत्त कत्तो जुज्जदे? ण तेसु सतेसु णाणावरणीयबधुवलभादो। नावश्य कारणाणि कार्यवन्ति भवन्ति, कुम्भमकुर्वत्यपि कुम्भकारे कुम्भकार व्यवहारोपलम्भात्। न च पर्यायभेदेन वस्तुनो भेद तद्व्यतिरिक्त-पर्यायाभावात् सकललोकव्यवहारोच्छेद प्रसगाच्च। न्यायश्चर्च्यते लोकव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थम्। न तद्बहिर्भूतो न्याय, तस्य न्यायाभासत्वात् ततस्तत्र तेषा कारणत्वं युज्यते इति। ध १२ पृ २८९।

इस प्रकार कार्य की निष्पत्ति और लोकव्यवहार दोनो के लिए यथायोग्य प्रत्ययो की विवक्षा समझकर आगम के सही-सही वाच्यार्थ तक गति करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।

बन्धव्यवस्था मे दर्शनमोहनीय की सामान्यता व उसका स्वरूप—

अब दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियो पर विचार करे। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वपरिणामो के प्रभाव से अनादिकालीन मिथ्यात्व को तीन भागो मे विभाजित कर देता है—[166] सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। जैसे कोदो (धान्य विशेष) को दलने पर वह तीन खण्डो मे विभाजित हो जाता है। इसी प्रकार दर्शनमोहनीय के भी तीन भाग बताये गये है।[167] इन तीनो भागो मे से तो सम्यक्प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व का बन्ध नही होता अर्थात् ये दो ही बन्ध के अयोग्य—अबध्यनीय है।[168] शेष एकमात्र मिथ्यात्वप्रकृति ही उनमे बन्ध के योग्य होती है।[169]

सम्यक्त्वप्रकृति को देशघाती और सम्यग्मिथ्यात्व व मिथ्यात्व को सर्वघाती प्रकृतियो मे परिगणित किया गया है।[170] आत्मा के गुणो का अश रूप से—एकदेश घात करने के कारण सम्यक्प्रकृति की

१६६ (अ) तम्हि चेव उवसतदसणमोहणीयपढमसमए तिण्णि कम्मसा उप्पादिदा। के ते ? मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तसण्णिदा। जयध १२ पृ २८१।

१६७. जतेण कोद्दव वा पढमुवसमसम्मभावजतेण।
मिच्छ दव्व तु तिहा असखगुणहीणदव्वकमा ॥ क का २६ पृ १४।

१६८ वण्ण-रस-गध-फासा-चउ चउ इगि सत सम्ममिच्छत्त।
होति अबधा बधण पण-पण सघाय सम्मत्त ॥ प्रा प स ६ पृ ४८।

१६९ ज त दसणमोहणीय कम्म त बधादो एयविह। ध ६ पृ ३८।

१७० (अ) णाणावरणचउक्क तिदसण सम्मग च सजलण।
णवणोकसायविग्घ छव्वीसा देसघादीओ ॥ क का ४० पृ ३७।

(ब) केवलणाणावरण दसणछक्क कसायबारसय।
मिच्छ च सव्वघादी सम्मामिच्छ अबधम्मि ॥ क का ३९ पृ ३६।

देशघाती संज्ञा है।[171] अर्थात् इस प्रकृति के द्वारा सम्यग्दर्शन नष्ट तो नहीं होता, किन्तु उसमें चल, मल और अगाढ़ दोष अवश्य लगते हैं।[172] मिथ्यात्वप्रकृति का स्वभाव सम्यग्दर्शन को घात करने वाला होने से उसे सर्वघाती की संज्ञा प्राप्त है।[173] और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति को तो ग्रन्थकारों ने जात्यन्तर रूप सर्वघाती प्रकृति माना है।[174] अर्थात् जिसके उदय से न तो सम्यक्त्वपरिणाम ही होता है और न ही मिथ्यात्व रूप परिणाम ही। इसके उदय से तो मिश्ररूप परिणाम पाया जाता है।[175] यही इस प्रकृति की जात्यन्तरता कही जाती है।

इस तरह तीनों ही प्रकृतियाँ अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप जीव में भाव पैदा करती हैं। इसीलिए इन्हें भावात्मक कहा जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व के उदय में होने वाले तृतीय गुणस्थान में किसी भी प्रकृति की बन्धव्युच्छित्ति नहीं होती।[176] यहाँ किसी भी प्रकृति के बन्ध में सम्यग्मिथ्यात्व का उदय थोड़ा भी नियामक नहीं होता।

---

१७१ विवक्षितैकदेशेनात्मगुणप्रच्छादिका शक्तयो देशघातिसंज्ञकानि भण्यन्ते।
द्र. सं. ३४ पृ. ७९।

१७२. (अ) वेदयसम्मत्तुदयादो उप्पज्जइ जं पयत्थ-सद्दहणं।
चलमलमगाढं तं वेदगसम्मत्तमिह मुणसु॥ ध. १ पृ. ३९०।

(ब) सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं।
चलमलमगाढं तु णिच्चं कम्मक्खवणहेदू॥ गो. जी. २५ पृ. ४८।

१७३ सर्वप्रकारेणात्मगुणप्रच्छादिका कर्मशक्तय. सर्वघातिसंज्ञकानि भण्यन्ते।
द्र. सं. ३४ पृ. ७९।

१७४ सम्मामिच्छत्तदयस्स वि सव्वघादी चेव होदु सव्वत्तस्स सम्मा-मिच्छत्तस्स सम्मत्ताभावादो। ध. ५ पृ. १६८।

१७५. समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः।
ध. १ पृ. १६६।

१७६ मिश्रे शून्यं व्युच्छित्त्यभाव इत्यर्थः। गो. क. ९४ पृ. ६६।

वहाँ ऐसा विचार नही करना चाहिए कि, सम्यक्प्रकृति चूकि देशघाती है, इसलिए उससे बन्ध नही होता। क्योकि सज्वलन को भी देशघाती ही कहा गया है।[177] फिर भी वह बन्ध कराने मे पूर्णत सक्षम है। और इतना ही नही, वह अपनी सर्वजघन्य अवस्था मे भी, अर्थात् सूक्ष्मलोभ के द्वारा दसवे गुणस्थान मे भी सोलह प्रकृतियो का बन्ध हुआ करता है।[178] अब भले ही यह अनन्तगुणी हीन शक्ति का धारक हो गया, लेकिन जब तक जीवित है, बन्ध ही करायेगा, चाहे वह अपना ना भी करा सके पर अन्य सोलह प्रकृतियाँ तो इसके द्वारा बधती रहेगी।

इसी तरह सम्यग्मिथ्यात्व के द्वारा भी किसी प्रकृति का बन्ध नही होता। इससे स्पष्ट है कि जिसका स्वभाव बन्ध कराने का नही वह कभी बन्ध नही करायेगा तथा जिसका स्वभाव बन्ध कराने का है वह प्रत्येक अवस्था मे बन्ध कराने के लिए तैयार रहता है।

इसी तरह मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व के उदय से अन्वय-व्यतिरेक रखने वाली मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतियो को भी मिथ्यात्व नही बाधता। वहाँ मात्र उसका उदय ही निमित्त होता है। इस तरह यह स्पष्ट रूप से समझ सकते है कि दर्शनमोहनीय का सारा का सारा परिवार ही बन्धव्यवस्था मे अपना कोई भी हाथ नही रखता।

क्या सभी औदयिकभाव बन्ध मे निमित्त होते हैं ?

यहाँ पर कोई प्रश्न कर सकता है कि महाराज!

---

१७७ देखें न० १७०।

१७८ पचाना ज्ञानावरणाना चतुर्णां दर्शनावरणाना यशस्कीर्तेरुच्चैर्गोत्रस्य पञ्चानामन्तरायाणा च मन्दकषायास्रवाणा सूक्ष्मसाम्पराये बन्धक। रा वा ९/२ पृ ५९१।

औदयिकभाव बन्ध का कारण होता है, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव मोक्ष के कारण हैं। पारिणामिक बन्ध और मोक्ष, दोनो के कारणपने से रहित है—ऐसा आचार्यों ने 'ओदइया बधयरा' ऐसी एक कारिका मे कहा है।[181] जहाँ कही भी प्रत्ययो या भावो का विवेचन चलता है वहा इस गाथा का अवश्य ही उद्धरण दिया जाता है। लेकिन धवला मे वीरसेन स्वामी ने इस गाथा की विस्तृत व्याख्या करते हुए स्वय प्रश्न उठाया है कि क्या सभी औदयिकभाव बन्ध के कारण है ? इसके समाधान मे उन्होने कहा है—नही ! ऐसा अर्थ नही समझना चाहिए। क्योकि ऐसा मानने पर गति, जाति आदि के भी उदय से होने वाले औदयिकभावो को भी बन्ध का कारण मानने का प्रसग आ जाएगा।[182] जैसे—गतिनामकर्म औदयिकभाव है और यदि वह बन्ध का कारण भी है तो मनुष्यगतिकर्म जिसका कि उदय प्रथम गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक है[183] तब गतिनामकर्म को सभी गुणस्थानो मे बन्ध कराना चाहिए ? लेकिन ऐसा होता नही है। कारण, चौदहवे गुणस्थान मे तो आस्रव और बन्ध दोनो ही नही होते[184] फिर वहाँ गतिनामकर्म का उदय क्या करेगा ?

---

१८१ देखें न० १७९।

१८२ (अ) देखें न० १८०। एव (व) देवगदी उदएण वि काओ वि पयडीओ वज्झमाणियाओ दीसति तासि देवगदि उदओ किण्ण कारण होदि त्ति वुत्ते ण होदि, देवगदिउदयाभावेण तासि णियमेण बधाभावाणुवलभादो। ध ७ पृ १०।

१८३ अन्यतरवेदनीयमनुष्यायुर्मनुष्यगतिपचेन्द्रयजातित्रसबादरपर्याप्तक सुभगादेययशस्कीर्त्युच्चैर्गोत्रसज्ञकानामेकादशाना प्रकृतीनामुदय अयोगकेवलिनश्चरमसमये नोर्ध्वम्। रा वा ९/३६ पृ ६३१।

१८४ मिच्छत्तासयम-कसाय-जोगाण बधकारणाण सव्वेसिमजोगिम्हि अभावा अजोगिणो अवधया। ध ७ पृ ८।

इसी तरह अज्ञान भी औदयिक भावो के अन्तर्गत गिना जाता है। वह प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक पाया भी जाता है।[185] यदि इसे बन्ध का नियामक या बन्ध कराने वाला मानेगे तो ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थान मे होने वाले एकमात्र साता वेदनीय के आस्रव को इसके द्वारा हुआ ही स्वीकारना होगा। लेकिन यह तो आगम विरुद्ध होगा, क्योकि साता का आस्रव तो तेरहवे गुणस्थान मे भी होता है पर वहाँ अज्ञानात्मक औदयिकभाव का अभाव है।[186]

इसी तरह असिद्धत्व भी औदयिकभाव है जो कि पहले गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक रहता है।[187] यदि उसे भी बन्ध मे नियामक कहे तो फिर वही बाधा आयेगी कि चौदहवे गुणस्थान मे आस्रव-बन्ध तो होते नही फिर असिद्धत्वभाव ने क्या किया ?

अध्यात्म

बन्ध का अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग साधन—

आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र मे बन्ध के हेतुओ की चर्चा करते हुए मिथ्यात्वादि पाँच साधन कहे हैं।[188] इसके बाद उन्होने एक सूत्र और कहा है।[189] इस प्रकरण मे हम उन्ही दोनो सूत्रो के गर्भ-प्रवेश की कोशिश करेगे।

---

१८५ औदयिकभावेष्वेकविंशतौ मिथ्यादृष्टौ एकजीवस्यैकनमये चतुर्गतित्रिवेदे चतु कषायषट्लेश्यास्वेकैको मिथ्यात्व असिद्धत्व असयमोऽज्ञान चेत्यष्टौ उपशान्तक्षीणकषाययो कषाय विना चत्वार। सयोगे अज्ञान विना त्रय। क का ८२७ पृ ११६६।

१८६ सयोगे अज्ञान विना त्रय। क का ८२७ पृ ११६६।

१८७ अयोगे लेश्या विना द्वौ तौ हि मनुष्यगत्यसिद्धत्वे। क का ८२७ पृ ११६६।

१८८ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव। त सू ८/१।

१८९ स कषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध। त सू ८/२।

आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने अध्यात्मग्रन्थ समयसार में भी मिथ्यात्वादि प्रत्ययो की चर्चा की है।[100] वहाँ पर इन प्रत्ययों के दो भेद कर दिये गये हैं–भावप्रत्यय और द्रव्यप्रत्यय ।[101] जिन जिन मिथ्यात्वादि के उदय से अज्ञानीजीव ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्य कर्मो का बन्ध करता है उसे द्रव्य प्रत्यय कहा गया है। तथा जीव के अन्दर होने वाले अपने रागादि परिणामो को, जिन्हे ही भाववन्ध कहा है, भावप्रत्यय कहा गया है।[102]

ज्ञानी जीव जो कि वीतराग सम्यग्दृष्टि है वह तो द्रव्य-प्रत्ययो के उदय आने पर भी शान्तभाव से निज आत्मा का चिंतन किया करता है जिससे उसे नवीन कर्मवन्ध नही होता।[103] कारण, द्रव्यप्रत्ययो का उदय मात्र ही नवीनवन्ध मे कारण नही वनता, वल्कि उसके उदय मे मुख्यतया भावप्रत्यय रूप जीव के रागद्वेष आदि विभावपरिणाम ही नवीन कर्मवन्ध मे कारण होते हैं।

उपर्युक्त आशय की अभिव्यक्ति ही सम्भवत आचार्य उमास्वामीजी ने अपने दोनो सूत्रो के माध्यम से की है। अर्थात् उनका पहला सूत्र–'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा बन्ध-हेतव' द्रव्यप्रत्ययो के कथन को करने वाला है तथा दूसरा सूत्र–

---

१६० मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
वहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ स सा १६४ पृ २३०।

१६१ णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारण होंति।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥ स सा १६५ पृ २३०।

१६२ जीवपरिणामहेदू कम्मत्त पोग्गला परिणमंति।
ण य णाणपरिणदो पुण जीवो कम्म समादियदि। ध ६ पृ १२।

१६३ णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिवद्धे जाणदि सो ते अवधंतो ॥ स सा १६६ पृ २३१।

'सकपायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वन्ध' यह भाव प्रत्ययो का प्ररूपक है।

द्वितीय सूत्र मे कहा गया है कि कपायवान् जीव कर्मो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है, इसी का नाम वन्ध है। लगता है उन्होने 'स वन्ध' इस पर विशिष्ट प्रयोजन के निमित्त से 'वही वन्ध है, अन्य नही' ऐसे शब्दो का सयोजन किया है। इन दोनो सूत्रो से प्रतीत होता है कि मिथ्यात्व के उदय मे, अनन्तानुवन्धी-अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणजन्य अविरति के सद्भाव मे, प्रमाद की अवस्था मे, कपायो के आवेग मे, और योगो की हीनाधिकता के साथ कषायवान् जीव नवीन कर्मो का वन्ध अपने रागादि विकारी परिणामो से करता है। इसे यदि सक्षेप मे कहा जाए तो अन्तरङ्ग भावप्रत्यय के द्वारा वहिरङ्ग मे द्रव्यप्रत्ययो का निमित्त पाकर वन्ध रूप नैमित्तिक कार्य सम्पन्न होता है।

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध—

अध्यात्मग्रन्थो मे आचार्यो ने वन्ध के दो भेद किये है— द्रव्यवन्ध और भाववन्ध।[194] यहाँ द्रव्यबन्ध का निमित्तकारण भाववन्ध को प्ररूपित किया जाता है और भाववन्ध के लिए द्रव्यबन्ध को। अर्थात् जो पूर्व मे वधा हुआ द्रव्यकर्म है उसके उदय से भाववन्ध होता है।[195]

पुद्गल वर्गणाओ का कर्म के रूप मे परिणत होकर आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह होना द्रव्यबन्ध है। और क्रोधादि

१९४ वन्धो द्विविधो द्रव्यवन्धो भाववन्धश्चेति। रा वा २/१० पृ १२४।

१९५ तत स्थित नवतरद्रव्यकर्मान्निवन्धोदयागतद्रव्यप्रत्यया कारण तेषां च जीवगना रागादिभावप्रत्यया कारणमिति कारणकारणव्याख्यान ज्ञातव्यम्। स सा १७८ पृ २४६।

परिणामो को भावबन्ध कहा गया है।[196] भावबन्ध को दूसरे शब्दो मे ऐसा भी कहा जा सकता है–आत्मा के जिस चेतन परिणाम से कर्म बधता है उसे भावबन्ध जानना चाहिए।[197]

इस सन्दर्भ मे एक बात जो ध्यान देने योग्य अवश्य है, वह है–भावबन्ध और द्रव्यबन्ध मे अनन्तर समयवर्ती न होने की। अर्थात् दोनो ही एक समयवर्ती हैं और दोनो मे कारण-कार्य भाव भी है। यहाँ ऐसा नही समझना चाहिए कि प्रथम समय मे जीव के विकारीभाव रूप कारण हो तथा दूसरे, तीसरे आदि समयो मे कर्मो के बन्ध रूप द्रव्यबन्ध हो। द्रव्यबन्ध मे निमित्त–कारणभूत, जीव के कषाय परिणाम और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से आत्म-प्रदेशो मे परिस्पदस्वरूप योग होता है।

बन्ध में आत्मा की भाववती एव क्रियावती शक्तियो का योग–

आत्मा के पास मुख्यरूप से दो शक्तियाँ है–भाववति और क्रियावति शक्ति। क्रिया से रहित मात्र होनेरूप भाववति शक्ति है।[198] और द्रव्य मे परिस्पन्दन की जनक क्रियात्मक क्रियावति शक्ति है।[199] इन्ही अर्थों को यदि एक-एक शब्दो मे कहे तो योग यानि क्रियावति शक्ति व मिथ्यादर्शन यानि भाववति शक्ति।

---

१९६ तत्र द्रव्यबन्ध कर्मनोकर्मपरिणत पुद्गलद्रव्यविषय। तत्कृत. क्रोधादि-परिणामवशीकृतो भावबन्ध। रा वा २/१० पृ १२४।

१९७ बज्झदि कम्म जेण दु चेदणपरिणामेण भावबधो सो।
कम्मादप्पदेसाण अण्णोण्णपवेसण इदरो॥ द्र. स ३२ पृ ७२।

१९८. कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्ति। स सा पृ ५२९।

१९९. कारणानुगतभवतारूपभावमयी क्रियाशक्ति। स सा पृ ५२९।

भाववति शक्ति द्वारा कोई क्रिया नही हुआ करती, उसके द्वारा तो मात्र विपरीत भावरूप परिणाम की उत्पत्ति होती है। अत मिथ्यात्व को भाववति शक्ति कहना युक्त है, कारण इसके उदय से आत्मा मे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति श्रद्धान मय भाव का अभाव पाया जाता है।[200] तथा क्रियावति शक्ति जिसे हमने योग कहा है, वह मन-वचन-काय की चेष्टारूप परिस्पदन ही है।[201]

जयधवला मे योग के लिए 'कम्मादाणणिवधणो[202]' ऐसा कहा गया है अर्थात् कर्मों के ग्रहण मे कारणभूत योग है।[203] शरीरनामकर्म के उदय से इसका आविर्भाव हुआ करता है। इसीलिए इसे कथञ्चित् औदयिक भाव भी कहा जाता है।[204] वैसे इसे पारिणामिकभावो मे भी पारिगणित किया गया है।[205] यहाँ प्रयुक्त योग को मुख्यतया क्रियात्मक शक्ति के रूप मे ही विवक्षित किया जा रहा है। इस समय इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि कषाय को भी

२०० (अ) जम्मोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्धा होदि, त मिच्छत्त। ध ६ पृ ३६।

(ब) यदुदयात् सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षितमोक्षमार्गपराङ्मुख सन्नात्मा तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुक तत्त्वार्थश्रद्धानपराङ्मुख अशुद्धतत्त्वपरिणाम सन हिताहितविवेकविकलो जडादिरूपतयाऽवतिष्ठते तन्मिथ्यात्व नाम दर्शनमोहनीयमुच्यते। न वृ ८/९ पृ २६६।

२०१ वाङ्मन कायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति। ध १ पृ २९९।

२०२ जोगो णाम जीवपदेसाण कम्मादाणणिवधणो परिप्फदपज्जाओ। जयध १० पृ २०२।

२०३ देखें न २०२।

२०४ (अ) ओदइओ जोगो, सरीरणामकम्मोदयविणासाणतर जोगविणासुवलभा। ध ५ पृ २२६।

(ब) उवयारेण खओवसमिय भाव पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्थाभावविरोहादो। ध ७६।

२०५ तदो सिद्ध जोगस्स पारिणामियत्त। ध ५ पृ २२६।

क्रियावति शक्ति मे शामिल किया जा सकता है। कारण कि उसका ही प्रभाव। सम्बन्ध योग पर सर्वाधिक पड़ता है।

मिथ्यात्व परिणामात्मक होने से मात्र भावरूप है कारण कि इसके उदय से जीव मे एकान्त, विपरीत, अज्ञान, वैनायिक और सशय इन पाच भावो की ही उद्भूति-अनुभूति होती है।[206]

इस प्रकरण को सहज बनाने के लिए उदाहरण से समझाने की कोशिश करते है—जैसे, बिजली की उत्पत्ति के लिए पखे पर काफी वेग के साथ जल गिराया जाता है, जिससे पखे मे गति आ जाने से विद्युत् उत्पन्न हो जाती है। इसी तरह कार्मणवर्गणाओ के आगमन का निमित्त लेकर जीव के मन-वचन-काय के द्वारा आत्म-प्रदेशो मे गति-परिस्पन्दन पैदा होता है। यानि जल कर्मववर्गणाए हुई, आत्मा के प्रदेश पखा, गति को योग व उत्पन्न होने वाली ऊर्जा (विद्युत्) को कषाय समझें। अब जरा ध्यान से देखा जाए कि यदि उस जलप्रवाह मे से सूर्य की किरणे निकलती है तो आकाश मे सप्तरगी इन्द्रधनुष की रचना होती है। यह रचना न तो जल को स्पन्दित करती है और ना ही पखे के घूमने मे इसका कोई हाथ है। यह रचना वहाँ सद्भाव को प्राप्त मात्र प्रकाश का ही परिणाम है। इसी तरह हम देखें तो ज्ञात होगा कि सप्तरगी इन्द्रधनुषी रचना के समान ही मिथ्यात्व भी जीव की भावात्मक दशा है। मिथ्यात्व के उदय मे आत्मा मे विपरीत श्रद्धानरूप परिणाम होता

२०६ (अ) पञ्चविध मिथ्यादर्शनम्—एकान्तमिथ्यादर्शन, विपरीतमिथ्यादर्शन, सशय-मिथ्यादर्शन वैनयिकमिथ्यादशन, अज्ञानिकमिथ्यादर्शन चेति।
स स ८/१ पृ २९१।

(ब) मिथ्या वितथाऽसत्या दृष्टिर्दर्शन विपरीतैकान्तविनयसशयाज्ञानरूप-मिथ्यात्वकर्मोदयजनिता। मूला ११९७ पृ ३१३।

है उससे किसी भी प्रकार की क्रियात्मकता नही आती। क्रियात्मकता यदि पैदा होती है तो वह योग और कषाय से ही। तथा सक्रियता से ही बन्ध हुआ करता है। अत मिथ्यात्व आस्रव और बन्ध नही कराता।

मिथ्यात्व, कषाय नहीं–

मिथ्यात्व के उदय मे जीव कभी कषायवान् नही होता।[207] मिथ्यात्व के साथ विद्यमान कषाय के द्वारा ही जीव कषायवान् होता है।[208] मिथ्यात्व का काम कषायभाव उत्पन्न कराना है भी नही। इससे तो जीव मे मात्र अतत्त्वरुचि या अश्रद्धानरूपभाव ही होता है।[209] यही कारण है जो सूत्रकार उमास्वामी ने 'सकषायत्वात्' के स्थान पर 'स-मिथ्यात्वात्'–ऐसा नही कहा। इससे यह भी समझना चाहिए कि उससे कषाय परिणाम नही होता।

दूसरी, चारित्र मोहनीय कर्म का परिवार अर्थात् कषाय का परिवार भी पच्चीस का ही बताया गया है। छब्बीस या अट्ठाईस का नही।[210] अत. स्पष्ट है कि मिथ्यात्व कषाय नही है।

मिथ्यात्व की अकिञ्चित्करता–

लोगो के मन मे एक शका और काफी गहरे से है। वह–

---

२०७ केण कसाओ ? 'स्वनुपगतं स्वालम्बनं च कषति हिनस्ति इति कषाय'। जयध १ पृ २६१।

२०८ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीयं णाम ध १३ पृ. ३५९।

२०९ अत्तागम-पयत्थेसु असद्धुप्पाययं कम्मं मिच्छत्तं णाम। ध १३ पृ ३५९।

२१० अकषायवेदनीयं नवविधं, कषायवेदनीयं षोडशविधमिति। त. नि ८/९ पृ० ३७५।

मिथ्यात्व को आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर कैसे कहा जाए ? है। इसका समाधान करने की पूर्ण कोशिश करूंगा मात्र सावधानी के साथ समझने की बात होगी।

भैय्या, अगर आप शब्दों को ही पकड़ते हो तो पहले शब्दो को ही लेकर समझा जाये। अध्यात्म मे षट्कारको और व्याकरण मे सात कारकों का उल्लेख किया गया है।[211] यदि सम्बोधन को भी कारक मान लिया जाए तो आठ हो सकते है। कारक का सामान्य अर्थ होता है–जो क्रिया को करे वह कारक है।[212] इन कारको मे सर्वप्रथम कर्त्ता कारक होता है।[213] कर्त्ता स्वतन्त्र हुआ करता है।[214] वह कार्य करने मे साधन–करण कारक का अवलम्बन लेता है। करण कभी कर्त्ता के रूप मे उपस्थित नही होता, वल्कि कभी-कभी कर्त्ता करण के रूप मे ही आ जाता है। जैसे–'ज्ञान ज्ञानता है' यहाँ ज्ञान को ही अभेद विवक्षा मे कर्त्ता सज्ञा दे दी गई है, जबकि जानने वाली आत्मा है। कर्त्ता के द्वारा की गई क्रियाके फल को कर्म कहते है।[215] इस प्रकार कर्त्ता, कर्म और करण कारक का स्वरूप हुआ।

---

२११ (अ) षट्कारकभेदेन संज्ञा द्विविधा भवति। प. का ४६ पृ ९२।

(ब) सम्प्रदानमपादान करणाधारकौ तथा।
कर्म कर्त्ता कारकाणि षट् सवन्धस्तु सप्तम। का रू श्लो ३ पृ ८३।

२१२ कि कारक ? करोति क्रिया निर्वर्तयतीति कारक। का रू ३८० पृ ७६।

२१३ कस्मिन्नर्थे प्रथमा विभक्ति ? कर्तरि प्रथमा। का रू ३८० पृ ३७६।

२१४ (अ) स्वतन्त्र कर्त्ता। जै व्या १/२/२४ पृ १२४।

(ब) अभिन्नकारकचिदानन्दैकचैतन्यस्वस्वाभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्त्ता भवति। प्र. सा १६ पृ १८।

२१५ (अ) यत्क्रियते तत्कर्म। का रू ३८१ पृ ७६।

(ब) नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वय प्राप्यत्वात् कर्मकारक भवति। प्र सा १६ पृ १८।

अधिकरण को अच्छी तरह समझने के लिए हमे तीन चीजें समझना होगी—करण, उपकरण और अधिकरण। करण का अर्थ है साधकतम साधकतम करण।[223] और इस कथन के लिए जो सहायक या उपकारी हो वह उपकरण कहलायेगा।[224] कार्य का जो आधार होता है उसे अधिकरण कहा जाता है।[225] जैसे आधार क्या है ? द्रव्य आधार होता है गुण और पर्यायो का।[226] इसी प्रसग को ध्यान मे रखकर मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर कहा गया है। क्योकि इस प्रसग मे मिथ्यात्व मात्र अधिकरण के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। यानी मिथ्यात्व के उदय मे करण अर्थात् अनन्तानुबन्धी अपनी शक्ति के द्वारा कर्त्ता बनकर इस बन्धरूप कार्य को करने वाली होती है।

कर्त्ता विभिन्न कारणो की सहायता से कार्य को करता है जिसमे उसे अधिकरणरूप कारक की भी आवश्यकता होती है। ध्यान रहे—अधिकरण कभी भी कर्त्ता या करण नहीं हुआ करता और न ही वह कोई कार्य ही करता है। कार्य तो हमेशा कर्त्ता और करण के द्वारा ही हुआ करते हैं। यहाँ जब मिथ्यात्व को अधिकरण के रूप मे प्रयुक्त किया है तब उसे न कर्त्ता कहा जा सकता है और न ही करण। अनन्तानुबन्धी की बात अलग है। इसके दो अधिकरण

---

२२३ (अ) साधकतम करणम्। जै व्या १-२-१२३ पृ १२४।
(ब) साधकतम करणमिति। न्या. दी. पृ. १३।

२२४ (अ) येन निर्वृत्तेरुपकार क्रियते तदुपकरणम्। स सि २/१७ पृ १२७।
(ब) उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरण। ध १ पृ २३६।

२२५. य आधारस्तत्कारकमधिकरणसज्ञ भवति। क. का. ४१७पृ ८२।

२२६. गुणपर्ययवद्द्रव्यम्। त सू ५/३८।

है–प्रथमगुणस्थान और द्वितीयगुणस्थान।[227] प्रथमगुणस्थान मे वह अपने साथ-साथ मिथ्यात्व को भी बांधती है तथा द्वितीयगुणस्थान मे मात्र अपना ही बन्ध करती है।

मैं समझता हूँ कि इस तरह की विवक्षाओ को लेकर यदि मिथ्यात्व को कर्त्ता और करणरूप से कार्य के प्रति अकिञ्चित्कर कह दे तो कोई अन्योक्ति नही कहलानी चाहिए। जहाँ आस्रव और बन्ध का कर्त्ता और करण मिथ्यात्व नही होता तब अकिञ्चित्कर ही तो हुआ–यानी आस्रव और बन्ध मे उसका कोई उल्लेखनीय योगदान नही है। जैसे–

एक केनवास पर एक चित्रकार ने चित्र बनाया। चित्र बनाने मे वह विभिन्न रगो एव ब्रुश की सहायता लेता है और चित्र को तैयार कर देता है। तो यदि यहाँ कोई यह कहे कि–'चित्र केनवास ने बनाया' यह उसकी अविज्ञता का ही सूचक हुआ ना ? कारण, चित्र चित्रपट पर बना है लेकिन चित्रपट–केनवास ने नही बनाया। भैय्या ! चित्र तो चित्रकार के द्वारा ही बनाया गया, ऐसा माना जाता है इसी तरह यहाँ पर अनन्तानुबन्धी चित्रकार है और मिथ्यात्व चित्रपट।

इस तरह अध्यात्म के माध्यम से भी देखा जा सकता है कि मिथ्यात्व की आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे क्या स्थिति है। इसके बाद अब न्याय के माध्यम से भी अपनी बात कह दूं। क्योकि इसका व्यवहार मे अलग ही महत्व है। इसके द्वारा जटिल विषय को भी सहज व सुबोध किया जा सकता है। जैनाचार्यो ने तो इस विधा का अनुसरण प्रत्येक क्षेत्र मे किया है।

---

२२७ मिच्छे मिच्छादाव सुहुमतिय नासणे अणेइ दी।
थावरवियल मिस्से मिस्स च य उदयवोच्छिण्णा ॥ क का २६५पृ ४२४।

प्रत्ययो की व्याप्ति—

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने अपने न्यायग्रन्थ आप्तपरीक्षा मे जैसे कषायपाहुड को ही उद्धृत कर कहा है कि जहाँ मिथ्यात्वरूप प्रत्यय रहेगा वहाँ पर ऊपर वाले सारे के सारे प्रत्यय विद्यमान रहेगे ही। किन्तु ऊपर वाले प्रत्ययो के साथ नीचे वाले प्रत्ययो की व्याप्ति नही है।[228] जैसे—मिथ्यादर्शन का जहाँ उदय है वहाँ नियम से अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का सद्भाव होना आवश्यक है। लेकिन जहाँ अविरति का उदय कहा गया है वहाँ मिथ्यात्व का सद्भाव भजनीय होता है। कारण, सासादन सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीजन्य अविरति सहित तीनो अविरति के रहते हुए भी मिथ्यात्व का सद्भाव नही होता।

इस तरह से प्रत्ययो की व्याप्ति आगे भी समझ लेना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व के रहते तीनो अविरतियो का सद्भाव अवश्यभावी है।

द्रव्यबन्ध और भावबन्ध में कार्य-कारण व्यवस्था—

जैसा कि अध्यात्म के प्रकरण मे द्रव्यबन्ध और भावबन्ध की चर्चा की है तथा उन्हे कार्यकारण के रूप मे बताया गया है वैसे ही न्यायग्रन्थो मे[229] भी उनमे कार्यकारणभाव बतलाया गया है।

२२८ एकैकहेतुक एव वन्ध पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन्नुत्तरस्योत्तरस्य वन्धहेतो सद्भावात्। कषायहेतुको हि वन्धो योगहेतुकोऽपि प्रमादहेतुकश्च योगकषायहेतुकोऽपि। अविरति हेतुकश्च योगकषायप्रमादहेतुक प्रतीयते। आ प का २ पृ २।

२२९ बन्धो हि सक्षेपतो द्विधा भाववन्धो द्रव्यवन्धश्चेति। तत्र भावबन्ध क्रोधाद्यात्मक स्तस्य हेतुर्मिथ्यादर्शन तद्भावे भावादभावे चावाभात्। आ प का. २ पृ १।

इससे उसकी यहाँ पर पुनरोक्ति करना उचित नही होगी। इस सन्दर्भ मे यहाँ इतना विशिष्टता से स्वीकार करने योग्य है कि 'जब आचार्यो ने उन दोनो मे कार्य-कारणभाव या निमित्त-नैमित्तिकभाव बताया है। तो उसे अमान्य नही किया जा सकता।' यदि इसे स्वीकार नहीं करते है तो सांख्यमत का प्रसग आ जायेगा।[230] क्योकि प्रकृति के पास परिणमन करने की क्षमता मात्र होने से ही कार्यो की उत्पत्ति नही हो जाती। उसमे पुरुषगत रागादि परिणामो का निमित्त आवश्यक होता है।[231]

इससे भी स्पष्ट है कि कषाय के उदयरूप निमित्त को पाकर कर्मवर्गणारूप परिणत पुद्गल द्रव्य का कर्मपने से परिणमन करना नैमित्तिक कार्य है। इस तरह निमित्त-नैमित्तिकभाव को स्वीकार करके ही बन्ध व्यवस्था को समझा जा सकता है।

उपसंहार

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का उपाय–

सभी आचार्यों का कहना है कि ज्ञानावरणादि आठ कर्मों मे मोहनीय कर्म ही मूलभूत कर्म है। और इस मोहनीय मे भी कषाय ही सभी कर्मो की जननी है। आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्ती ने कहा है–

---

२३० देखें स. सा ११६ से १२५ पृ १७५–१८१ तक।
एवं सांख्यकारिका ६२।

२३१. जीवपरिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणाम जाण दोह्णंपि॥ स सा ८७-८१ पृ १३२।

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरु तेण कसाओत्तिणं वेंति ।।[232]

अर्थात् कर्मरूपी खेत मे मिथ्यात्वादि बहुत प्रकार के परिणामरूपी बीजो के द्वारा अनेक प्रकार के सुख-दु ख रूपी धान्य को उत्पन्न करने वाला कषायरूपी किसान होता है । यानि कषाय को ही सभी कर्मों का कर्त्ता/सृष्टा माना है ।

जब ये कषाये तीव्र वेग से जीव के उपयोग पर प्रभाव डालती है तो उस समय वह निज–पर के भेद को ही भूल जाता है और उसे निरन्तर कर्मबन्ध हुआ करता है । ऐसे आवेग के अवसरो पर तीन लोक मे एकमात्र हितकारी जो सम्यग्दर्शन है[233] उसे भी प्राप्त नही कर पाता । उसे प्राप्त करने के लिए कषायो के वेग को कम करना होता है ।[234] सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भोजन करते, नीद लेते, विषयभोगो मे लगे रहने आदि अवस्थाओ मे भी असम्भव होती है । बिना कषायो को मन्द किये उसे प्राप्त नही किया जा सकता है । इसे एक उदाहरण से समझ ले–

मान लीजिए आप एक कार मे बैठे हुए है । कार अपनी अधिकतम गति से चल रही है । अब यदि आप उस कार से उतरना चाहे तो उसमे से उतरना सम्भव नही है । उस परिस्थिति मे कार को भी एकदम नही रोका जा सकता है । इस पर भी किसी ने न मानकर यदि उसे रोक ही दिया तो वह पलट जायेगी, और यदि

२३२ जी का २८२ पृ ४७३ ।
२३३ देखें मगलाचरण पृ १ ।
२३४ विसुद्धीए वड्डमाणस्सेदस्स वड्डमाणकसायत्तेण सहविरोहादो । तदो कोहादिकसायाण विट्ठाणाणुभागोदयजणिद तप्पाओग्ग मदयरकसाय-परिणाममणुभवतो एसो सम्मत्तमुप्पाएदुमाढवेइ त्ति सिद्धो सुत्तस्स समुदायत्थो। जयध १२ पृ २०३ ।

ग्राप उतर गये तो ग्रापका बचना भी निश्चित सुरक्षित नही है। तब ग्राप क्या करे ? ग्रब तो कार को ही क्रमश धीमी करनी होगी, ग्रौर जैसे ही वह एक किमी प्रति घण्टे की स्पीड मे ग्रा जाएगी तो ग्रापका उतरना सहज ही हो सकता है।

इसी तरह कषायो की वात है कि उनके ग्रावेग के समय यदि ग्राप उनसे हटने की बात सोचे तो सम्भव नही । उस समय तो मिथ्यात्व मे भी सत्तर कोटाकोटि सागर का बन्ध चलता है। जब वे कुछ कम हो जाती है तो कषाय के द्वारा होने वाला बन्ध मात्र ग्रन्त कोटाकोटिसागर रह जाता है । तभी हम सच्चे देव-गुरु-शास्त्र या निज-पर की ग्रोर दृष्टि प्राप्त कर सकते है।[235] प्रायोग्यलब्धि के उपरान्त करणलब्धि के माध्यम से ही सम्यक्त्व प्राप्त किया जाता है ।[236] कारण, जैसे-जैसे कषाय मन्द होती है वैसे-वैसे मिथ्यात्व की शक्ति भी क्षीण होती जाती है ।

हमारे ऊपर ग्राचार्यो का बडा उपकार है । जो कि उन्होने, जिन कर्मवर्गणाग्रो को हम देख नही सकते, चख नही सकते, छू नही सकते, सूँघ नही सकते—ऐसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्गणाग्रो को श्रुतज्ञान के माध्यम से जानकर उन पर श्रद्धान कर उन्हे हटाने के साधन बताये । मात्र 'मिथ्यात्व हटाग्रो मिथ्यात्व हटाग्रो' कहने मात्र से वह हटने वाला नही । हमे उसे हटाने के लिए कषायो को व उसको भी समझना होगा ग्रौर उनसे बचने का प्रयास भी करना

---

२३५ एत्थ विसोधीए वड्ढमाणए सम्मत्ताहिमुहमिच्छादिट्ठिस्स पयडीण बधवोच्छेदकमो उच्चदे—सव्वो सम्मत्ताहिमुहमिच्छादिट्ठी सागरोवमकोडाकोडीए ग्रतो ठिदि बधदि, णो वहिद्धा । ध ६ पृ १३५ ।

२३६ खमउवसमियविसोही देसणपाओग्ग करणलद्धी य ।
चत्तारि वि सामण्णा करण पुण होदि सम्मत्ते ।। जी का ६५१ पृ ८८५ ।

होगा। जो आत्मा अनादिकाल से कषायो के वशीभूत हो अपने स्वभाव को ही भूल बैठा है, उसे अपनी भूल सुधारने का यही उपाय है।

अध्यात्म प्रणाली मे भी कहा गया है कि बुद्धिपूर्वक[237] आस्रव और वन्ध का रास्ता वन्द करने के लिए इन्द्रिय और प्राणी सयम के द्वारा कषायो का और मन-वचन-काय की व्यर्थ प्रवृत्तियो का उपशम करे तथा अबुद्धिपूर्वक[238] होने वाले रागद्वेष से बचने के लिए बार-बार आत्मतत्त्व को छुओ।[239] वीतराग-परिणाम ही इस वन्ध की दशा से छुटकारा दिला सकता है। जैसा कि कहा है–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्झह।।[240]

अर्थात् राग के द्वारा वन्ध होता है और वीतरागता के द्वारा मुक्ति। ऐसा वन्ध और मोक्ष का सक्षेप कथन जिनदेव द्वारा किया गया है। इसलिए अपना हित चाहने वाले को राग नही करना चाहिए। राग मे रमना नही चाहिए। राग से राग नही करना चाहिए।

---

२३७ (अ) सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिश राग समग्र स्वयम्। निजाम् ५/४ पृ ५८।
(ब) बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा वाह्यविषयाना लम्ब्य प्रवर्त्तन्ते, प्रवर्तमाना स्वानुभवगम्या अनुमानेन परस्यापि गम्या भवति।
स मा १७२ पृ २३८।

२३८ (अ) वारम्वारमबुद्धिपूर्वमपि त जेतु स्वशक्ति स्पृशन्। निजाम् ५/४ पृ ५८।
(ब) अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमन्तरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेष।
स सा १७२ पृ २३८।

२३९ देखें २३७ एव २३८।

२४० स सा १५० पृ २१३।

आज तो लोग मात्र चर्चा मे डूब रहे है और समझ रहे हैं कि हो गया आत्मदर्शन। भैय्या! असयमित रहकर स्वाध्याय करने मात्र से कुछ भी सिद्ध होने का नही।[241] सयमित होकर इन्द्रियो को जीतो। ऐसा न हो कि आप यहा चर्चा करे और वर्षो कोर्ट-कचहरी मे केस भी लडे। स्वाध्याय का फल सुख मे लीन रहना है।[242] यदि सयम के साथ षट्खण्डागम जैसे महान् आर्ष ग्रन्थो का अवलोकन करोगे तो ही असख्यातगुणी निर्जरा होगी।

हमारा उद्देश्य : भूल सुधार व अनाग्रहभाव—

लोग कहते हैं महाराज! आप आठ-दस वर्षो से निरन्तर यह चर्चा कर रहे है, इससे आपको क्या लाभ हुआ? आपको जो भी लाभ हुआ हो सो ठीक है, लेकिन इतना अवश्य है कि लोगो मे मिथ्यात्व के विपय का दुष्प्रचार अवश्य हुआ है। ऐसी मेरी धारणा है?

भैय्या! हमने तो इस चर्चा को लगातार चलाकर व चिन्तन-मनन का विषय बनाकर आगम का स्वाध्याय और लोगो के विरोध के बावजूद भी प्रत्येक परिस्थिति मे समता रख पाने—जैसा फल पाया है। साथ ही हर समय सत्य और आगम का सहारा लेने की सीख मुझे मिली।

मिथ्यात्व को आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे अकिंचित्कर कहकर मिथ्यात्व का पोषण या दुष्प्रचार का हमारा आशय कभी

---

२४१ सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष । तत्प्राप्त्युपायो मार्ग । मार्ग इति चैकवचन-निर्देश समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थ । तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्ति कृता भवति। जयध १० पृ २६।

२४२ एवमभिष्टुवतो मे, ज्ञानानि समस्तलोकचक्षूषि।
लघु भवताज्ज्ञानर्द्धि ज्ञानफल सौख्यमच्यवनम्। ध ध्या दी पृ १५६।

भारती

नही रहा। लेकिन यदि कोई ऐसा सोचता है तो यह उसका उपादान है। हमारा तो आशय मात्र इतना ही है कि—'मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी की आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे वास्तविक स्थिति क्या है' इसे प्रकट किया जाना चाहिए। जिस कषाय की छत्र-छाया मे मिथ्यात्व पलता है, उस कषाय की ओर हमारा ध्यान प्रत्येक समय रहना चाहिए। कषायो को कम करने का पुरुषार्थ करना चाहिए, जिससे कि मिथ्यात्व को हटाया जा सके। कषाय की तीव्रता मे तत्त्वार्थश्रद्धान तो दूर भगवान् की वाणी का श्रवण-मनन-चिन्तन भी नही किया जा सकता है। यह एक बात हुई।

दूसरी, जिस तत्त्व का जो स्वरूप है उसे उसी रूप मे समझे—माने और श्रद्धान करे। इसके बिना सम्यग्दर्शन होने वाला नही। जिसे अभी मिथ्यात्व और कषाय का सम्यक् स्वरूप ही ज्ञात नही, जो विषय-कषायो मे रच-पच रहा है, उसे सम्यक्त्व की भूमिका कैसे बनेगी ?

आस्रव और बन्ध के क्षेत्र मे मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का कितना और कैसा काम है—इसे समझना और इससे बचना अनिवार्य है। इनके अभाव होने पर सम्यग्दर्शन तथा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होगे और तभी तीनो मिलकर मोक्षमार्ग बनेगा। अकेले सम्यग्दर्शन के द्वारा या उसकी चर्चा के द्वारा मोक्ष मिलने वाला नही।

अभी तक हमने जो कुछ भी कहा वह आगम को देखकर उसको ध्यान मे रखकर उस पर पूर्वापर विचार कर ही कहा है। फिर भी मैं 'ऐसा नही कहता कि यही अन्तिम है।' आगे भी यदि आगम मे कोई बात आयेगी तो हम विद्वानो से विचार-विमर्श

करेंगे। हमारा कोई भी आग्रह नहीं कि इसे ही मानना चाहिए। हमने तो मात्र आपके सामने आगम के परिप्रेक्ष्य में इस विषय को प्रस्तुत किया है। आगम पर हमारा विश्वास है। सभी का, कम से कम मोक्षमार्गी का तो सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर सच्चा श्रद्धान होना ही चाहिए—ऐसी भावना है, तथा जिसने इस पंचमकाल में विषय-कषायों की चकाचौंध से बचकर अपना कल्याण करने का पुरुषार्थ आरम्भ कर दिया वे धन्य हैं।

पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ।।१४८।
(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

(दिनांक—११/६, २६/६ एवं ६/८/'८६ की मध्याह्न को गृहीत विशेष चर्चाओं के आधार से संकलित एवं आलेखित)